होलकर-हिन्दी-ग्रंथ माला नं ३४

आविष्कार-विज्ञान ।

प्रकाशक-

श्री मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति,

इन्दौर ।

होलकर-हिन्दी-ग्रंथ माला नं. ३४.

आविष्कार-विज्ञान

पूर्वार्ध

लेखक-

उदयभानु शर्मा

प्रकाशक-

श्री मध्य-भारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर.

प्रथमबार १००० प्रति } संवत् १९८६ { मूल्य ॥=)

अनुक्रमणिका

करण-विभाग

अवतरणिका

अखिल विश्व में प्रत्येक प्राणी वैचित्र्योपासक है। प्रकृति देवी की विचित्रता को देखकर सभी मुग्ध होते और उसके गाम्भीर्य का ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करते हैं। हम प्रायः देखते हैं कि पक्षीगण अरण्य में किसी विचित्र वस्तु को देखकर एकत्रित हो जाते हैं और उनका कलरव तब-तक बन्द नहीं होता, जब-तक वे उस वस्तु से अभिज्ञ नहीं हो पाते। संसार के समस्त प्राणियों में यही जिज्ञासा पाई जाती है। हाँ, किसी जाति में वह अधिक होती है और किसी में न्यून।

मनुष्यों में यह शक्ति विशेष रूप से समुन्नत है। इस ओर तो उसने संसार के सब प्राणियों से बाजी मारली है। इसी कारण वह द्वि-पाद पशु से मनुष्य कहलाने का आधकारी बना। अनादि काल से वह इस शक्ति की उपासना करता रहा है। उसने इसका उपयोग करना सीखा और इसकी शक्तियाँ बढ़ा कर प्रकृति-देवी के गूढ़ रहस्यों को प्रकट करने की यथेष्ट चेष्टा की। यह बात निर्विवाद है। संसार के इतिहास इसकी साक्षी देते हैं।

आज-कल शिक्षा का बोल-बाला है। नगर में—गाँव में—चारों ओर इसी की धूम मची हुई है। शिक्षा का

वास्तविक उद्देश्य भी यही है कि वह मनुष्य की शक्तियों का विकाश करे और उसे इस योग्य बनादे, जिससे वह प्रकृति को उसके वास्तविक रूप में देख सके। पर खेद है कि वर्तमान शिक्षा हमें दूसरी ओर ले जारही है। इसने उन शक्तियों को बढ़ाने की अपेक्षा अधिक कुचला है। यदि सच पूछो तो यह शिक्षा नहीं किन्तु विघातक दीक्षा है।

हम बी० ए० हैं—हम एम० ए० हैं—हम अमुक हैं—और हम तमुक हैं। हम ने ढेरों पुस्तकें पढी हैं—हम ने सहस्रों पुस्तकें कण्ठस्थ की हैं। औरों के सिद्धांतों के हम धनी हैं। ये-ही हमारी पूँजी है और इन्हीं पर हमारा व्यापार स्थित है। भला, सोचिए ? हमारी यह क्या दशा है। जो मनुष्य व्यापार में सफलता चाहता है—जो मनुष्य धनी बनना चाहता है, उसके लिये निजी संपत्ति चाहिये—औरों की भिक्षा या चोरी से कोई धनी नहीं बन सकता !

अमुक का सिद्धान्त यह है और अमुक का यह: रात्रि-दिवस यही रटना है। किसी विषय में हमारी स्वतन्त्र गति नहीं। प्रत्येक सिद्धान्त के लिए हमें औरों का-ही मुँह ताकना पड़ता है। जब अन्य लोग प्रकृति को उसके वास्तविक स्वरूप में देख सकते हैं; तब क्या कारण है कि हम इस निरीक्षण से वंचित रहते हैं। किस सिद्धान्त का क्या महत्व है, वह कैसे जाना जा सकता है, उसका वास्तविक रूप क्या है, और उसका

उपयोग हम अपने जीवन में कैसे कर सकते हैं— इन कल्पनाओं के लिए हमारे मास्तिष्क में स्थान नहीं।

परमात्मा के हम सब पुत्र हैं। हम सब स्वतन्त्र हैं। अतः सभी बातों में दूसरों के आश्रित रहना अच्छा नहीं। अब हमें उन साधनों को सीखना चाहिए—उन शक्तियों को जाग्रत करना चाहिए, जिनकी सहायता से अन्य लोग सफलता प्राप्त करते हैं। अन्य वैज्ञानिक लोग जो कुछ कह रहे हैं, उससे अब हमें सन्तोष नहीं करना चाहिए; प्रत्युत उन शक्तियों का पता लगाना चाहिये जिनके द्वारा हम प्रकृति को जान सकें। यही इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है।

इसके पूर्व मैं मानसिक शक्तियों का वर्णन दो पुस्तकों द्वारा कर चुका हूँ। उनमें सङ्कल्प और इच्छा-शक्तियों का दिग्दर्शन कराते हुए मैंने यह बतलाने की चेष्टा की थी कि इन शक्तियों के समुन्नत हो जाने से विजय किस प्रकार हस्तामलक हो जाती है। पर उनमें उन शक्तियों का वर्णन नहीं था जिनकी सहायता से मनुष्य अपना ज्ञान-भंडार स्वतन्त्र रूप से बढ़ा सके। अतः, अब की बार मैंने इस पुस्तक को लिखने का निश्चय किया। हिन्दी-भाषी जनता ने उन पुस्तकों का समुचित आदर कर मुझे इस के लिखने में विशेष प्रोत्साहित किया है, इस कारण मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। आशा है, वे अब की बार भी वैसी ही कृपा का परिचय देंगे।

इसे रचने का निश्चय तो मैंने कर लिया। मेरे सहृदय मित्रों ने इसे शीघ्र समाप्त करने की बार-बार प्रेरणा भी की। परन्तु मुझ सदृश एक साधारण विद्यार्थी के लिए यह कार्य साधारण न था। देशी भाषाओं की तो कौन कहे, पर अंग्रेज़ी सदृश समुन्नत भाषा में भी इस विषय का साहित्य अभी संकुचित अवस्था में है। फिर भी मैंने धैर्य्य रखा और जैसे-तैसे इसे समाप्त करके अब मैं आपके सम्मुख उपस्थित हुआ हूँ। इसमें मौलिकता कितनी है और विषय-प्रतिपादन में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है; इसका निर्णय तो मैं विद्वानों पर ही छोड़ देता हूँ।

आधुनिक काल की पुतस्कों में जो त्रुटियाँ देखी जाती हैं, उनका मुख्य कारण उनके लेखक-गण समयाभाव और अपनी अस्वस्थता ही बतलाते हैं। पर इस पुस्तक की त्रुटियों के कारण ये नहीं। पुस्तक लिखने में मैंने पर्याप्त समय लिया है और मेरा स्वास्थ्य भी ठीक ही रहा है। हाँ, पुस्तक के बढ़ जाने के भय से मैंने प्रत्येक विषय को संक्षेप में ही लिखा है। इसी कारण अनेक बातें छोड़ना भी पड़ी हैं। यदि सम्भव हुआ तो मैं किसी अन्य समय उन्हें अपने पाठकों के सम्मुख रखूँगा।

मैं कोई विज्ञान का विशेषज्ञ नहीं हूँ, और न भाषा का ही योग्य लेखक हूँ। ऐसी अवस्था में इस पुस्तक में अनेक त्रुटियों का होना स्वाभाविक ही हैं। मैंने उन्हें दूर करने

की चेष्टा की पर मेरा ज्ञान अत्यन्त परिमित होने के कारण मुझे सफलता बहुत-ही कम मिली। यदि कोई विद्वान पक्षपात रहित होकर उनका दिग्दर्शन मुझे करायँगे तो मैं उनका चिर-कृतज्ञ रहूँगा और दूसरे संस्करण में तथा आगे भी उनका ध्यान रखूँगा। आशा है, हिन्दी के विद्वान मेरी इस प्रार्थना को अरण्य रोदन-सी होने देंगे।

यह पुस्तक किसी धर्म, समाज, जाति, या मत के आवेश में आकर नहीं लिखी गई है। इसके द्वारा मेरा किसी विशेष धर्म का प्रचार करने का हेतु नहीं है। आप चाहे किसी भी धर्म या व्यवसाय के हों, परन्तु यदि आप उन्नति करना चाहते हैं, यदि आप उन भीम शक्तियों को जाग्रत करना चाहते हैं जिनके अस्तित्व तक की ख़बर सर्व साधारण को नहीं है; तो आप इस पुस्तक को अवश्य पढ़िए।

यदि आप इस पुस्तक को पढ़कर लाभान्वित होना चाहते हैं, तो केवल पढ़ने से काम न चलेगा। जैसे जीवन के लिए भोजन को पचाने की आवश्यकता है, वैसे-ही इसकी शिक्षा को मनन रूपी क्रिया द्वारा हजम करना चाहिए, अन्यथा यह गरिष्ट भोजन लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाएगा।

इस पुस्तक का अध्ययन करने की उत्तम रीति यही है कि इसे आद्योपान्त विचार-पूर्वक पढ़ा जाय। यह नहीं कि बीच-बीच का भाग या कहीं-कहीं छोड़कर पढ़े। इसमें कई पारिभाषिक शब्द आए हैं। आज-कल के विद्यार्थी दर्शनों से बिलकुल कोरे रहते हैं। इस कारण बिना प्रारंभ से पढ़े उन्हें

पारिभाषिक शब्द न समझेंगे। पुस्तक के किसी भी वाक्य को कंठस्थ करने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक वाक्य को पढ़े और उसके भाव को समझने का यत्न करे।

इसे मैंने दो भागों में समाप्त किया है। यह पूर्वार्ध आप के सम्मुख है। इसमें उन्हीं विषयों की चर्चा की गई है जिनकी सहायता से मनुष्य अपनी मानसिक प्रयोग-शाला को आविष्कार के योग्य बना सकता है। दूसेर भाग में आविष्कार और उसेक नियमों की विशद व्याख्या की गई है। वह भाग भी लगभग इतना ही बड़ा होगा। इस के एक २ अध्याय पर स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है। यदि आप लोगों की सहानुभूति हुई तो मैं उन्हें भी प्रकट करूँगा।

यह किसी अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद नहीं। इसके लिखने में मैंने पाश्चात्य और प्राच्य दोनों भाषाओं की पुस्तकों से सहायता ली है। दर्शनों की सहायता से यह विषय और भी सरल हो गया है। इस में मैंने अपने विचार स्वतन्त्र रूप से लिखे हैं। जिस सिद्धांत से मेरा मत-भेद है उसे भी मैंने निःसंकोच प्रकट किया है। उनकी आलोचना करने का भी साहस किया है। यदि हिन्दी-जनता का ध्यान इस पुस्तक की सहायता से विज्ञान को स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करने की ओर आकृष्ट हुआ तो मैं अपने को उपकृत समझूँगा।

१०२, रावजी बाजार
इन्दौर शहर
ता० २-६-२८

उदयभानु

ओ३म्

दो शब्द
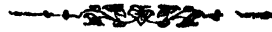
श्री उदयभानुजी से हिन्दी-प्रेमी परिचित हैं। आपके लेख हिन्दी के उच्च कोटि के मासिक-पत्रों सरस्वती, माधुरी वैदिक धर्म, आदि में निकलते हैं और बड़े विचार-पूर्वक पढ़े जाते हैं। आपकी पुस्तक 'संकल्प-शक्ति' आपकी गम्भीर मनन-शक्ति का उज्वल परिणाम है। प्रकृत पुस्तक में आपने एक बिलकुल नये क्षेत्र में पदार्पण किया है और मुझे यह कहते हुए हर्ष होता है कि आपको अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफलता हुई है। इस विषय पर तो अन्य भाषाओं में भी बहुत थोड़ा साहित्य पाया जाता है। अतः ग्रन्थ में मौलिक विचारों की भी कमी नहीं है और यह सर्वथा ग्रंथ के अनुरूप ही है। जब आप आविष्कार-विज्ञान पर लिखने बैठे तो उसमें विचार भी आविष्कृत ही होने चाहिएँ। कई विचारों में आप बड़े-बड़े प्रामाणिक समझे जाने वाले महात्माओं से स्वतन्त्र चले गये हैं, और यह आपने अपनी भूमिका में स्वयं लिख दिया है।

ग्रन्थ का विषय कुछ कठिन, परिभाषिक-सा होते हुए भी आपने इसे विषद करने का पूरा प्रयत्न किया है। आपकी भाषा अलंकार युक्त न होते हुए भी प्रसाद-गुण को सदा लिये

रहती है । अतः ऐसे गहन विषय को भी समझने में पाठकों को कोई विशेष कठिनाई नहीं होती । आप इस प्रतिज्ञा से चलते हैं कि माँगे हुए विचारों से किसी मनुष्य की उन्नति नहीं हो सकती । और न वह आविष्कार के क्षेत्र में पग बढ़ा सकता है । आपने इस प्रतिज्ञा को स्वयं भी खूब निभाया है । प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को भली-भाँति मथन करके आपने उनमें से उपयुक्त अंशों का चुनाव कर अपनी स्वतन्त्र गवेषणा-बुद्धि का परिचय दिया है। यह नीर-क्षीर विवेक बुद्धि भारत के नवयुवकों में जैसे भी होसके पैदा करनी चाहिये । ग्रन्थकार हिन्दी-प्रेमी जनता के धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि उन्होंने आविष्कारों के युग में देश के युवकों का ध्यान स्वतंत्र विचार-शक्ति बढ़ाने की ओर दिलाया है और उसके साधनों का निरुपण कर दिया है । यही सच्चा तत्वज्ञान भी है क्योंकि तत्वज्ञान किसी विषय को निरन्तर सोचने के स्वभाव का दूसरा नाम है । मुझे आशा है कि पाठकगण ग्रन्थ का रुचि-पूर्वक पाठ करके ग्रन्थकार का परिश्रम सफल करेंगे और स्वयं कृतकृत्य होंगे । मैं हृदय से इस प्रयत्न की सफलता चाहता हूँ ।

परमानन्द (बी० ए०)

पहला अध्याय

अन्तर्जगत्

जगत् दो हैं-(१) बहिर्जगत् और (२) अन्तर्जगत्। बहिर्जगत वह है जिसका अनुभव हम इन्द्रियों द्वारा करते हैं; और अन्तर्जगत् वह है जिसका अनुभव हमें केवल मन द्वारा ही होता है अर्थात् अन्तर्जगत् इन्द्रियातीत है।

इन दोनों जगतों में बड़ा सादृश्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सदृशता इतनी बढ़ गई है कि कई विद्वानों को एक का दूसरे में भ्रम हुआ है। कई अंशों में समानता रखते हुए भी ये एक दूसरे से भिन्न हैं। अन्तर्जगत् मनोमय है और बहिर्जगत् भौतिक। जैसे इनके उपादान एक नहीं वैसे-ही इनके नियमों में भी भेद है। इसी कारण दोनों पृथक २ माने गये हैं; और दोनों की सीमा इतनी निर्धारित है कि एक का दूसरे से पार्थक्य बिल-कुल स्पष्ट प्रतीत होता है।

यह कहा जा चुका है कि इन दोनों जगतों में बड़ी सदृ-शता है। इसी कारण एक को समझ लेने से दूसरा भी समझ में आजाता है। हम सब ने इस बहिर्जगत् को देखा है। इसके उपादान कारण को प्रकृति और रचयिता को पुरुष कहते हैं। परमात्मा ने प्रकृति द्वारा इस विश्व की रचना की है। न केवल प्रकृति से ही यह विशाल विश्व बन सकता है, और न केवल परमात्मा ही बिना प्रकृति के इसे रच सकता है। पहले में

कर्त्ता का अभाव है, और दूसरे में कारण का। सभी दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है और यह सर्व-सम्मत भी है।

बहिर्जगत् में जो कार्य ईश्वर का है, अन्तर्जगत् में वही कार्य मन का है। वहाँ जो कार्य प्रकृति का है, यहाँ वही कार्य्य संस्कारों का है। जैसे प्रकृति के विना ईश्वर जगत् की रचना नहीं कर सकता, ठीक इसी प्रकार मन भी विना संस्कारों के अन्तः संसार को नहीं बना सकता।

ईश्वर इस अखिल विश्व में ओत-प्रोत है, और मन इस अन्तर्विश्व में (ओत-प्रोत है)। वहाँ कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो। यहाँ कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ यह (मन) न हो। विश्वम्भर जगत् का कर्त्ता है, अतः उसके सब कार्य इस विश्व में होते हैं; मन अन्तर्जगत् का कर्त्ता है, अतः उसके सब कार्य इस जगत् में होते हैं। ईश्वर अपने साम्राज्य में स्वतंत्र है, यह विश्व उसका साम्राज्य है और वह उसका सम्राट है; मन अपने राज्य में स्वतंत्र है, अन्तर्जगत् उसका साम्राज्य है, और वह उसका सम्राट है। बहिर्जगत् में हमारी शक्ति नहीं कि हम ईश्वर की कारीगरी में कुछ हस्तक्षेप कर सकें, चाहे हम कितने ही बड़े बुद्धिमान्, वैज्ञानिक, धनी, या मानी हों; अन्तर्जगत् में उसकी शक्ति नहीं कि वह हमारे कार्य में हस्तक्षेप करे। हम दोनों स्वतंत्र हैं, और अपने-अपने साम्राज्य के स्वयं अधिपति हैं। यह एक निर्विवाद बात है, चाहे आप मानें या न मानें।

संसार परिवर्त्तन शील है । प्रकृति की कोई विकृति ऐसी नहीं जो परिवर्त्तनीय न हो । इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए बर्गसन महोदय लिखते हैं:—

"Change is constant and Universal;" and "The world whether as a whole or in its parts, is in constant change." हम सभी लोग देखते हैं कि जो वस्तु आज है, वह कालान्तर में अवश्य नष्ट हो जाती है । इस विश्व में नित्य नयी वस्तुओं का प्रादुर्भाव होता रहता है, और पुरानी वस्तुएँ सदा नाश को प्राप्त होती रहती हैं । इसी प्रकार समस्त पदार्थों के लिये उत्पत्ति, परिवर्त्तन, और विनाश का चक्र परिवर्त्तित होता रहता है । जो हाल इस जगत् का है वही इस अन्तर्जगत् का भी है । नई कल्पनाओं का नित्य-प्रति उदय होता रहता है, और प्रति-दिन सहस्रों कल्पनाएँ नाश को प्राप्त होती रहती हैं । कल हमने लेख लिखा, आज उसे पढ़कर कुछ संशोधन की आवश्यकता प्रतीत होती है; यह इसका ज्वलन्त प्रमाण है कि कल से आज हमारे अन्तर्जगत् में कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुआ है । साधारणतः परिवर्त्तन-क्रम इतना धीरे-धीरे चलता है कि साधारण व्यक्ति इसका अनुभव भी नहीं कर सकता ।

इन दोनों जगतों का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है । यहाँ-तक कि पहले के अस्तित्व पर ही दूसरे का अस्तित्व निर्भर है ।

अन्तर्जगत् कल्पना-मय है। जैसे बहिर्जगत् द्रव्यों के समूह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं; ठीक इसी प्रकार यह भी कल्पनाओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो पदार्थ बहिर्जगत् में हैं और जिनका अनुभव हमें इन्द्रियों द्वारा होता है, वे-ही इस अन्तर्जगत् की सामग्री हैं। किन्तु जो पदार्थ इन्द्रियातीत हैं, या जिनका अनुभव हमें इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, वे कभी-भी हमारे अन्तर्जगत में नहीं आ सकते। यही इन दोनों जगतों का सम्बन्ध है। अर्थात् अन्तर्जगत् बहिर्जगत् के आश्रित है- इतरेतराश्रय नहीं।

हमारे सम्मुख यह विशाल एवं विचित्र विश्व है। इसके आदि-अन्त का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना मानवी शक्ति के परे है। हमारा ज्ञान, चाहे वह कितना ही विस्तृत क्यों न हो; इस सम्पूर्ण विश्व के एक परिमित भाग का ही ज्ञान है- अखिल विश्व का नहीं। लेकिन यह जो अन्तर्जगत् है; उसका सम्पूर्ण ज्ञान हमें है क्यों कि इसके रचयिता हम स्वयं ही हैं। सब-से प्रथम पदार्थ और इन्द्रिय का संयोग होता है, इस संयोग द्वारा कल्पना उत्पन्न होकर हमें बहि-र्जगत् के पदार्थों का बोध कराती है। जो वस्तु कल्पना के परे है, वह ज्ञान-गम्य नहीं। इसी कारण कहा जाता है कि मनुष्य का ज्ञान कल्पना-मय है।

यहाँ यह जता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि हमारा अभिप्राय इन पंक्तियों के लिखने से यह नहीं है कि बहिर्जगत्

कुछ है ही नहीं— वह केवल भ्रम या मनोविकार है । प्रत्युत हमारा यह अटल सिद्धान्त है कि जगत् सत्य है और उसकी सब वस्तुएँ यथार्थ में अपना आस्तित्व रखती हैं। हाँ, बहि-र्जगत् की किसी भी वस्तु का ज्ञान हमें तब-तक नहीं होता, जब-तक उस वस्तु की कल्पना हमारे मन में उदय नहीं होती। हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं, वे ये-ही कल्पनाएँ हैं। इनके परे हमें किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं। हमारी स्मृति भी इन्हीं कल्पनाओं से बनती है । कल्पना मानसिक अर्थात् अन्तर्जगत् की वस्तु है; इसी कारण कहा जाता है कि हम जो कुछ भी जानते हैं, वह मनोमय है। विश्व एक है, किन्तु अन्तर्जगत् अनेक हैं। क्योंकि प्रत्येक पुरुष का अन्तर्जगत् अपना २ अलग होता है। कोई भी दो अन्तर्जगत् एक जैसे नहीं। चाहे उनके कर्त्ताओं में कितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों न हो, चाहे वे एक ही परिस्थिति में क्यों न पले हों; किन्तु उनके अन्तर्जगतों में भिन्नता अवश्य ही आजाती है। पिता-पुत्र के, मित्र-मित्र के, पति-पत्नी के, और भाई-भाई के भी अन्त-र्जगत् एक जैसे नहीं होते। कुछ अँशों में समानता अवश्य आजाती है, परन्तु भिन्नता इतनी स्पष्ट रहती है कि साधारण जन भी इसका अनुभव बड़ी सरलता से कर सकता है। इस भिन्नता का कारण अन्दर से है, बाहर से नहीं।

अन्तर्जगत् के स्रष्टा आप ही हैं। मित्र आपके अन्य कामों में हस्तक्षेप कर सकता है, मन्दिर बनाने में आप उनकी सहायता ले सकते हैं, किन्तु इस अन्तर्जगत् की रचना में आपका ही व्यक्तित्व कार्य करता है। संसार की कोई भी शक्ति आपके लिये इस कार्य को नहीं कर सकती। इसकी रचना में आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं। चाहे आप अच्छा बनाएँ या बुरा, विशाल बनायँ या लघु, यह सब आपकी ही इच्छा पर अवलम्बित है।

यह अन्तर्जगत् आपका ही रचा है और सदा आपका ही बना रहेगा। चोर आपके द्रव्य को चुरा सकता है, राजा आपके अधिकार को छीन सकता है, किन्तु संसार की सब शक्तियाँ मिलकर भी इस अन्तर्जगत् को आपसे पृथक नहीं कर सकतीं। यदि आप शान्त होकर ध्यान-पूर्वक विचारेंगे तो यह ज्ञात हो जायगा कि इस अन्तर्जगत् की तह में आप स्वयं विराजमान हैं, आपही इसके सर्वस्व हैं, और वे आपही हैं जो भविष्य में इसका उपयोग करेंगे।

इसे छोड़कर न आप कहीं जा सकते हैं और न यह आपको कभी छोड़ सकता है। जहाँ आप जायँगे, सोते-उठते-बैठते-खाते-पीते यह आप के ही साथ सदा रहेगा। आपका प्रत्येक मनोव्यापार इसी जगत् में होगा, अन्यत्र नहीं।

अन्तर्जगत् कल्पनाओं से बना है। कल्पनाएँ इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होती हैं। जिस व्यक्ति की जो इन्द्रिय नष्ट हो

जाती है, उसके विषय की कल्पना उसे नहीं होती। यह हमारा अनुभव है; अतः सिद्ध होता है कि जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ जितनी बलवान होंगी उसमें कल्पनाएँ उतनी ही स्पष्ट और अधिक होंगी।

यदि आपने किसी समय, अपने अन्तर्जगत् का पर्य्यालोचन किया हो, तो यह ज्ञात होगा कि मन की प्रत्येक क्रिया कल्पनाओं पर ही आश्रित है। स्मृति, कामना, विचार, मेधा, बुद्धि, भावना, तर्क, अनुमान आदि कोई भी मन की शक्ति कल्पना के अभाव में कार्य नहीं कर सकती। कल्पना इन्द्रिय-जनित है। अतः अन्तर्जगत् की विशालता इन्द्रियों पर ही आश्रित है। यदि इन्द्रियाँ बलवान और स्वस्थ हैं, तो कल्पना भी अधिक स्पष्ट और सत्य होगी; पर यदि इन्द्रियाँ विकृत हो जायँ तो कल्पनाओं में दोष आजाना स्वाभाविक ही है।

यदि ये सब इन्द्रियाँ नष्ट होजायँ या किसी साधन द्वारा इनके मार्ग रोक दिये जायँ, तो आपको किसी भी बाह्य वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। तब न केवल आपके लिये यह बहिर्जगत् ही शून्य-सा हो जायगा किन्तु ऐसी अवस्था में आपका अन्तर्जगत् भी धीरे-धीरे नष्ट होने लगेगा। कुछ दिनों के उपरान्त न यह संसार आपके लिये होगा और न आप इस संसार के लिये। यदि किसी मनुष्य को जन्म-काल से ही कोई

इन्द्रिय न हो तो इस बात को मानने में किंचित भी संशय नहीं होता कि उस दयनीय प्राणी को अपने होने की भी खबर न होगी। हमारा प्रत्येक विचार शब्द मय होता है। प्रत्येक भाव के लिये शब्द का होना अनिवार्य्य है। शब्द का ज्ञान इन्द्रिय से होता है पर इस मनुष्य को कोई इन्द्रिय नहीं है, अतः इसे कोई भी विचार न होगा।

वहिर्जगत् की किसी भी वस्तु को आप नहीं जानते। आप जानते हैं उन कल्पनाओं को जो इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी इन कल्पनाओं में मन की अन्य शक्तियाँ कुछ परिवर्त्तन या संशोधन कर देती हैं; इस कारण साधारण व्यक्ति को इस नियम में अपवाद का भ्रम हो जाता है। जैसे सुतार लकड़ी को काट छाँट कर अपनी इच्छानुसार उसे वास्तविक लकड़ी से भिन्न रूप दे देता है ठीक इसी प्रकार मन की अन्य शक्तियाँ भी कल्पना में परिवर्त्तन कर देती हैं। वस्तुतः वे हैं उसी आई हुई कल्पना का संशोधित रूप। जैसे सुतार लकड़ी के अभाव में कुछ कार्य नहीं कर सकता, ठीक वैसे ही मन की अन्य शक्तियाँ भी विना कल्पना के उपयोग में नहीं लाई जा सकतीं, सारा अन्तर्जगत् और उसके समस्त व्यापार इन्हीं कल्पनाओं पर आश्रित हैं। यह सिद्धान्त बड़े महत्व का है। इसे पूर्ण रूप से समझे विना आप इस पुस्तक के इतर भागों को नहीं समझ सकते; इसी कारण इस विषय का इतना विस्तृत वर्णन किया है।

बहिर्जगत् से कल्पनाओं का स्रोत अन्तर्जगत् की ओर सदा बहा करता है। मन जो कुछ भी अनुभव करता है वह इसी मनोराज्य में, अन्यत्र नहीं। यहीं बैठा हुआ यह संसार की ज्ञातव्य बातों को जानता है। इसकी उपमा एक बड़े सम्पादक से दी जा सकती है। जैसे पत्र-संपादक अपने कार्य्यालय में बैठा हुआ संवाद-दाताओं द्वारा सारे संसार के समाचारों को जान लेता है; ठीक इसी प्रकार मन भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। सम्पादक किसी भी घटना-स्थल पर नहीं होता, पर प्रतिदिन उसे असंख्य घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता रहता है। संवाद-दाताओं द्वारा जो पत्र उसके पास आते हैं; उनमें से वह आवश्यक और मनोरंजक समाचारों को एकत्रित कर लेता है और शेष पत्र रद्दी की टोकरी में डाल दिए जाते हैं। तत्पश्चात वह उन संगृहीत समाचारों को अपने पत्र की नीति के अनुसार परिवर्तित कर लेता है। जिन्हें संपादकों से परिचय प्राप्त है वे इस बात को भली-भाँति जानते हैं कि पत्र में कोई संवाद बिना परिवार्तित किए नहीं छापा जाता। कहीं संक्षेप के लिए अनावश्यक बातें काट दी जाती हैं, कहीं संशोधन किया जाता है, कहीं उपयुक्त शब्द जोड़ दिए जाते हैं, और कहीं लेख को रोचक बनाने के लिए उसकी काया तक पलट दी जाती है।

इतना कर लेने के उपरान्त भी सम्पादक अपने पत्र में समाचारों को उसी क्रम से नहीं छापता जिस क्रम से वे प्राप्त

होते हैं । लेखों के महत्व का विचार कर उन्हें आगे-पीछे करके प्रकाशित करता है । पुनः इन्हीं पत्रों के आधार पर वह सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखता है । जैसे इन सब घटनाओं को वह स्वयं कभी जाकर नहीं देखता, वैसे ही मन भी कभी घटना-स्थल पर नहीं जाता । वह सदा इन्द्रिय रूपी संवाद दाताओं द्वारा बहिर्जगत् की घटनाओं का समाचार संवेदन रूपी पत्रों द्वारा प्राप्त करता है । सम्पादक के सदृश वह भी उन्हें अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर चित्त रूपी पत्र पर प्रकाशित करता है ।

यद्यपि सम्पादक घटना-स्थल पर कभी नहीं होता तथापि वह अपने व्यक्तित्व से वहाँ के समाचारों में ऐसी स्वाभाविकता ला देता है; मानो, पाठक स्वयं उन घटनाओं का प्रत्यक्षानुभव कर रहे हों । ठीक यही हाल मन का है । वह भी घटना-स्थल पर न होते हुए, उनका वर्णन स्वाभाविक रूप से चित्त पर अङ्कित करता है । सम्भवतः आपको यह विचार नया और आश्चर्यजनक मालूम पड़ेगा । किन्तु यह बात यथार्थ में सत्य है और थोड़े प्रयास से पूर्णतः समझी जा सकती है ।

सम्पादक का प्रत्येक कार्य प्राप्त हुए समाचारों पर ही निर्भर है । जैसे बिना किसी समाचार के प्राप्त किये अच्छे-से-अच्छा सम्पादक भी कुछ कार्य नहीं कर सकता; ठीक इसी प्रकार मन का प्रत्येक कार्य इन कल्पनाओं पर ही आश्रित है ।

जैसे जगत् का उपादान द्रव्य है, वैसे ही अन्तर्जगत् का उपादान कल्पना है। जैसे यह संसार विना द्रव्य के कुछ भी नहीं, वैसे ही यह अन्तर्जगत् भी कल्पनाओं के समूह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। अन्तर्जगत् की विशालता, उसका सौंदर्य्य और वैचित्र्य इन्हीं कल्पनाओं की बहुलता, स्पष्टता, सत्यता, और उत्तमता पर निर्भर है। यदि कल्पनाएँ अल्प-संख्यक, अस्पष्ट, और भ्रमात्मक होंगी तो मन की शक्तियाँ चाहे कितनी-ही समुन्नत क्यों न हो, कोई लाभ न हो सकेगा। आपका प्रत्येक मनोव्यापार इन्हीं कल्पनाओं के आश्रित है।

कल्पनाओं की उत्पत्ति इन्द्रिय से, और ग्रहण मेधा द्वारा होता है। अतएव इन्द्रिय और मेधा ये दो साधन कहे जाते हैं। जिनकी मेधा और इन्द्रियाँ विकसित हैं, उनकी कल्पनाएँ अधिक और उपयोगी होंगी। ये दोनों शक्तियाँ विकासनीय हैं। कतिपय लोगों का यह ख्याल है कि जो शक्ति जन्म के साथ जैसी प्राप्त हो गई वह वैसी ही रहेगी अर्थात् उसकी उन्नति कभी संभव नहीं। इन लोगों का कथन है कि जैसे अङ्ग-हीन मनुष्य का नया अङ्ग कभी उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे बौना कभी ऊँचा नहीं बन सकता; वैसे ही इन्द्रियाँ और मेधा जिस व्यक्ति को जन्म से जैसी प्राप्त हो गई हैं वैसी-ही रहेंगी। इनमें घटती-बढ़ती कभी सम्भव नहीं। किन्तु वास्तव में यह सिद्धांत भ्रम-पूर्ण और प्रमादियों का है। जो है, उसका विकास अवश्य होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। हाँ, यदि स्वभाव से ही जिसका

अस्तित्व नहीं है, उसकी न उत्पत्ति होगी और न विकास । मेधा और इन्द्रियाँ मनुष्यों में पाई जाती हैं, अतः सभी मनुष्य इनकी उन्नति कर सकते हैं । परीक्षा से तो यह सिद्ध हो चुका है कि न केवल दुर्बल शक्ति सबल बनाई जा सकती है, पर सबल शक्ति भी सबल-तर बन सकती है ।

आपको यह ज्ञात हो चुका है कि हमारा ज्ञान कल्पनाओं पर ही आश्रित है और कल्पनाएँ इन्द्रिय और मेधा की शक्ति पर अवलम्बित है । इन्द्रिय और मेधा के कमजोर होजाने पर कल्पनाओं की क्या दशा होगी, यह स्वयं विचारणीय है । आज-कल कल्पनाओं की बाढ़ पर आवश्यकता से भी अधिक जोर दिया जाता है, परन्तु मेधा और इन्द्रियों की शक्ति के विकास की ओर किसी का भी ध्यान नहीं है । इन शक्तियों के अविकसित रह जाने से विद्यार्थियों को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है; फिर भी जैसा चाहिये वैसा लाभ नहीं होता ।

उन्नति-शील मनुष्यों को अपनी उन्नति की ओर ही ध्यान देना पर्याप्त नहीं । इसके अतिरिक्त श्रम और समय का भी विचार रखना चाहिए । इसी बात को ध्यान में रख कर कई आविष्कार ऐसे किये गये जिनकी सहायता से श्रम और समय के बचाव में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है । इस श्रेय के लिये पाश्चात्य वैज्ञानिकों की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है ।

इस पुस्तक में हमें आविष्कार का विचार करना है । प्रत्येक आविष्कार भौतिक जगत् में आने के प्रथम मानसिक

जगत् में उत्पन्न होता है। विमान के आविष्कार के प्रथम उसकी कल्पना उसके आविष्कर्त्ता के मन में उदय हुई थी। प्रत्येक आविष्कार का यही हाल है। इसका विस्तृत वर्णन उत्तरार्ध में किया जायगा।

आविष्कार अन्तर्जगत् की विशालता पर निर्भर है। यदि कारीगर के पास गृह-निर्माण की अनेक वस्तुएँ होंगी तो वह उत्तम गृह बना सकेगा, पर यदि उसके पास पर्य्याप्त साधन न होंगे तो वह कभी भी उत्तम मन्दिर न बना सकेगा। इसी कारण आविष्कार के लिये अन्तर्जगत् में उपयोगी साधनों की विपुलता अत्यन्त आवश्यक है। इसके विना कोई भी व्यक्ति सफल नहीं हो सकता। ये साधन कल्पनाएँ हैं; जैसा कि आप अभी पढ़ चुके हैं। कल्पनाएँ इन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर हैं, अतः अगले अध्याय में हमें इसी विषय पर विचार करना है।

दूसरा अध्याय

इन्द्रियाँ

अस्मिन्वसुवसवोधारयन्तु।

—अथर्व

“ विज्ञान के जिज्ञासुओं को अपनी इन्द्रियों का उत्तम विकास करना चाहिये। ”

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् में जिन साधनों द्वारा सम्बन्ध स्थापित होता है उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। इनके दो प्रकार हैं— (१) कर्मेन्द्रिय, और (२) ज्ञानेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय द्वारा

अन्तर्जगत् का अधिष्ठाता मन बहिर्जगत् में कार्य्य करता है और ज्ञानेन्द्रिय द्वारा वह बहिर्जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। मन विना कर्मेन्द्रियों के बहिर्जगत् में न कुछ कर्म कर सकता है और न ज्ञानेन्द्रियों के विना वह किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी कारण इन्द्रियों को करण अर्थात् साधन कहा जाता है।

यहाँ हम ज्ञानेन्द्रियों का ही वर्णन करेंगे। क्योंकि कर्मेन्द्रियों का इस पुस्तक से कोई संबंध नहीं है। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैः—

(१)	चक्षु—	जिससे रूप का बोध होता है.
(२)	श्रोत्र—	,, शब्द ,,
(३)	त्वचा—	,, स्पर्श ,,
(४)	रसना—	,, रस ,,
(५)	घ्राण—	,, गन्ध ,,

मन इन इन्द्रियों का अधिपति है।

जो इन्द्रिय एक समय में जितने स्थान के पदार्थों का अनुभव कर सके उसे उस इन्द्रिय का क्षेत्र कहते हैं। मान लीजिये, मैं अपने सम्मुख ५० फीट दूर, १०० फीट ऊँचा, और २० फीट इधर-उधर एक ही समय एक दृष्टि से देख सकता हूँ—तो यह मेरा चक्षु-क्षेत्र है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हैं। इस भिन्नता का कारण उनकी इन्द्रिय-शक्ति है। त्वचा और रसना दूर के पदार्थों का अनुभव नहीं

कर सकतीं; इस कारण उनका कोई क्षेत्र नहीं होता । इन्द्रियों की शक्ति के सिवा भी उद्भावना की शक्ति क्षेत्र के विस्तार के लिये अपेक्षित है ।

प्रथम इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) का संयोग होता है । इस सम्बन्ध से इन्द्रिय में जो क्षोभ होता है उसे संवेदन कहते हैं । यह संवेदन ध्यान की सहायता से मन में एक क्रिया उत्पन्न करता है इसे कल्पना कहते हैं । संवेदन की उत्पत्ति के लिये ध्यान की आवश्यकता नहीं पड़ती । हम आगे चलकर इसका विवेचन करेंगे ।

प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय निश्चित है । कोई भी इन्द्रिय अपने विषय को छोड़, अन्य इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं करती । नेत्र सदा रूप को ही ग्रहण करेगा, शब्द को नहीं । विषयानुभव के लिये ध्यान आवश्यक है । बिना ध्यान के किसी विषय का अनुभव नहीं हो सकता ।

इन्द्रियाँ सब इन्द्रियातीत हैं । क्योंकि इन्द्रियों का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता । शरीर में ये जो स्थूल इन्द्रियाँ दिखाई देती हैं, वे वास्तव में इन्द्रियाँ नहीं किन्तु उनके निवास-स्थान हैं-जिन्हें गोलक कहते हैं । इन्द्रियाँ और उनके गोलक ज्ञान के लिये अपेक्षित हैं । प्रत्येक इन्द्रिय का गोलक निश्चित है और वह उसी नाम से प्रसिद्ध है । जैसे कर्णेन्द्रिय जिस गोलक में रहती है, उसे कर्ण; नेत्रेन्द्रिय के गोलक को नेत्र; आदि-आदि । यह व्यावहारिक प्रयोग है ।

गोलकों का वर्णन वास्तव में शरीर शास्त्र का विषय है। जिन्हें इनका विस्तृत वर्णन पढ़ना हो, वे तद्विषयक पुस्तकें पढ़ें। यहाँ हम उनका संक्षिप्त विवरण उसी सीमा तक लिखेंगे, जहाँ-तक उनका ज्ञान इन्द्रियों के कार्य्यों को समझाने के लिये अपेक्षित है।

नेत्र का वर्णन।

जिन गोलकों में चक्ष्वेन्द्रिय रहती है, उन्हें चक्षु कहते हैं। इनकी संख्या दो हैं। इनके द्वारा रूप, रंग, आकार, प्रकार आदि का बोध होता है आँखें प्रायः सभी को प्राप्तव्य हैं, पर अधिकाँश लोगों को उनकी परीक्षा के साधन उपलब्ध नहीं होते। इस कारण उनकी बनावट दृष्टान्त द्वारा समझाई जाती है।

आँख की बनावट कैमरे से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। कैमेरे को प्रायः सभी ने देखा होगा या उसे सहज में देख सकेत हैं। उसके अवलोकन करने में इतनी कठिनाई नहीं होती, जितनी आँखों के निरीक्षण करने में होती है। इस कारण पहले कैमेरे का वर्णन लिख देना अभीष्ट होगा।

यह यन्त्र वास्तव में एक अन्धेरी कोठरी के सदृश है। इसमें एक ओर ताल लगा रहता है, और दूसरी ओर अर्थात् इस ताल के सम्मुख, काँच की एक प्लेट लगी रहती है। इस प्लेट पर काले रंग का एक ऐसा मसाला लगा रहता है, जिसमें प्रकाश की किरणों को ग्रहण करने की शक्ति होती है। वस्तुओं का प्रतिबिम्ब इसी प्लेट पर पड़ता है। कोठरी की बनावट ऐसी

होती है, जो आवश्यकतानुसार लम्बी या छोटी की जा सकती है: ताकि प्रतिबिम्ब ठीक पटल पर गिरे। प्रकाश को न्यूनाधिक करने के लिये ताल और पटल के बीच में एक छोटा सा यन्त्र लगा रहता है। जब धूप तेज होती है तब कम प्रकाश से काम चल जाता है; और जब बादल या अन्य किसी कारण से प्रकाश न्यून होता है तब प्रकाश की अधिक आवश्यकता होती है। जिन्होंने कैमरे को नहीं देखा है, वे उसे देखलें। क्योंकि उसके देख लेने पर आँख की बनावट को समझने के लिये तनिक भी कठिनाई न होगी।

आँख में तीन पटल होते हैं। सब-से बाहिरी पटल श्वेत रंग का और अपारदर्शक होता है। यह हमें सामने से दिखाई देता है। यही श्वेत पटल मध्य में स्वच्छ और विवर्ण हो गया है-इसे कनीनिका (Cornea) कहते हैं। यद्यपि श्वेत पटल और कनीनिका एक ही दिखाई देते हैं, परन्तु ये बिलकुल भिन्न-भिन्न द्रव्य के बने हैं।

कनीनिका में से चमकता हुआ एक काला परदा दिखाई देता है; यही मध्य-पटल के बीच का भाग है। किसी-किसी में यह भूरे या कुछ नीले रंग का भी होता है। इसमें एक गोल छिद्र होता है जो फैलता और सिकुड़ता दिखाई देता है। इस छिद्र को पुतली, तारा, तारक, या कृष्णा कहते हैं। मध्य-पटल को कृष्ण-पटल या उपतारा भी कहते हैं। कृष्ण-पटल के कृष्णा का कार्य्य प्रकाश के प्रवेश को न्यूनाधिक करना है।

कृष्ण-पटल के पीछे तीसरा पटल रहता है। इसे ताल कहते हैं। प्रकाश की किरणों का प्रवेश इसी की स्वच्छता पर निर्भर है। माँस के संकोच और विस्तार से ताल का बन्धन तंग या ढीला होता है। जो काम कैमरे की कोठरी की लम्बाई को कम या अधिक करने से होता है वही काम आँख में ताल की मोटाई को न्यूनाधिक करने से होता है। इस ताल के पीछे आँख में एक लसदार अर्ध तरल द्रव्य भरा रहता है जिससे चक्षु का आकार स्थिर रहता है।

कैमरे में जो कार्य्य प्लेट का है, वही काम आँख में दृष्टि-पटल का है। प्रकाश की किरणों को इस पटल पर पड़ने के प्रथम कनीनिका, कृष्णा, ताल और द्रव्य में से जाना पड़ता है। इन चार पदार्थों को पार करने के पश्चात् ही प्रतिबिम्ब पटल पर उलटा गिरता है। इस प्रतिबिम्ब द्वारा पटल में जो क्षोभ होता है वह सँवेदनिक तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाकर वस्तु का बोध कराता है। किसी वस्तु का ज्ञान ठीक २ प्राप्त करने के लिये दूरी, प्रकाश, कनीनिका, तारा, ताल, द्रव्य और मस्तिष्क की सम् स्थिति आवश्यक है। इनमें से किसी एक के भी विषम हो जाने से या ध्यान के अभाव में पदार्थ का ज्ञान ठीक २ नहीं होता। आँख को घुमाने के लिये ६ पेशियाँ लगी रहती हैं: इनके द्वारा वह चारों ओर घुमाई जा सकती है। प्रकाश को बिलकुल रोकने के लिये दो पलक होते हैं।

क्षुद्र जीवों में आँख की बनावट बहुत ही सादी होती है पर मनुष्य की आँख की बनावट अत्यन्त जटिल और आश्चर्य-

जनक है । वैज्ञानिकों का कथन है कि पशुओं की अपेक्षा मनुष्य वर्ण-भेद अधिक कर सकता है ।

दृष्टि-पटल लगभग आधा इंच चौड़ा रहता है । किन्तु इस पर ही इतने बड़े दृष्टि-क्षेत्र की प्रत्येक क्रिया और पदार्थ का चित्र स्पष्ट होता है । यह कितनी विचित्र बात है कि जो मोटर ५० मील प्रति घंटे की चाल से चले, उसका अनुभव हमें $\frac{1}{2}$ इंच वाले दृष्टि पटल पर हो जाय । यह एक बड़ी ध्यान देने योग्य बात है । इसका समाधान करते हुए महर्षि गोतम स्वकीय न्याय दर्शन में लिखते हैं कि 'महद्णुग्रहणात्' (३-१-३१) अर्थात् इन्द्रियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे पदार्थ का अनुभव कर सकती हैं । न्याय के मत में इन्द्रियाँ अभौतिक हैं । किन्तु दूसरे शास्त्रकार इसका विरोध करते हैं । इस विषय का संबंध दर्शन से है, अतः इस पुस्तक में ऐसे विवादास्पद प्रश्न का विवेचन करना अभीष्ट न होगा ।

इस संबंध में कुछ शंकाएँ ऐसी हैं जिनका समाधान अत्यावश्यक है । मानस्-शास्त्र के विद्यार्थियों के मन में इन प्रश्नों का उठना साहाजिक है । इस कारण उनका समाधान नीचे किया जाता है ।

प्रश्न—जब नेत्र-पटल पर वस्तु का चित्र उलटा होता है तब वह हमें सीधी क्यों दिखाई देती है ।

उत्तर–देखने की शक्ति पटल में नहीं किन्तु मस्तिष्क में है। प्रतिबिम्ब द्वारा तत्सम्बंधित सांवेदानिक नाड़ियों में क्षोभ होता है। वह मस्तिष्क में जाकर जो परिणाम उत्पन्न करता है–उसे चाक्षुष-ज्ञान कहते हैं। यह परिणाम उलटा नहीं होता।

प्र०–नेत्र दो हैं। अतः एक पदार्थ के दो प्रतिबिम्ब होना सिद्ध होता है; पुनः पदार्थ एक क्यों दिखाई देता है।

उ०–दोनों प्रतिबिम्बो का प्रोत्साहन मस्तिष्क में जा कर एक हो जाता है।

प्र०–कई लोग इसका समाधान यों करते हैं कि यद्यपि दृष्टि-पटल पर दो प्रतिबिम्ब होते हैं, तथापि ध्यान एक ओर ही जाता है, दोनों ओर नहीं; इस कारण एक समय में एक ही पदार्थ का बोध होता है।

उ०–यह युक्ति कि ध्यान एक ही प्रतिबिम्ब की ओर जाता है, ठीक नहीं है। ध्यान कभी एक वस्तु की ओर नहीं जाता, परन्तु न्यूनाधिक अँश में वस्तुओं के एक समूह की ओर रहता है। हम कभी भी एक वस्तु को नहीं देखते। जब देखते हैं तब वस्तु-समूह को। कल्पना कीजिये कि आपके सम्मुख किसी बोर्ड पर 'क' शब्द लिखा हुआ है। यद्यपि आप 'क' की ओर ही देख रहे हैं, और उसे ही देखने के लिये आपकी दृष्टि उस ओर

है, तथापि 'क' के साथ उसके आस-पास की काली तह भी अप्रयास दिखाई देती है। यदि उस तह पर कोई अन्य वस्तु होगी तो उसे भी आप विना इच्छा के देख सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि ध्यान एक की ओर नहीं पर एक समूह की ओर जाता है। हाँ, समूह की सब वस्तुओं की ओर वह ध्यान समान रूप से नहीं होता; किसी वस्तु की ओर अधिक और किसी की ओर न्यून होता है। ऐसी दशा में जब प्रतिबिम्ब दो होते हैं तब यह कहना कि ध्यान के कारण एक प्रतिबिम्ब का ही अनुभव होता है, युक्ति-युक्त नहीं।

दूसरा हेतु यह है कि जब प्रतिबिंब दो होते हैं और मन एक समय में एक का ही अनुभव करता है तब उस अवधि (अर्थात् एक प्रतिबिंब को छोड़ कर दूसरी ओर जाने के बीच का समय) में वह किसी पदार्थ को न देखेगा, पर यह बात प्रत्यक्ष में घटती नहीं।

तीसरा हेतु यह है कि दोनों प्रतिबिम्बों की दशा भिन्न-भिन्न होती है और किसी २ व्यक्ति की दोनों आँखें समान शक्तिशाली नहीं होतीं, इस कारण दोनों प्रतिबिम्बों में भिन्नता आना स्वाभाविक है। पर इस भिन्नता का अनुभव परीक्षा से ज्ञात नहीं होता। अतः, सिद्ध होता है कि वस्तु के एक दिखाई देने में ध्यान अहेतु है।

कर्णेन्द्रिय

कर्ण वह इन्द्रिय है जिसके द्वारा हमें शब्दानुभव होता है। इसके तीन विभाग हैं-बाह्य, मध्य, और अभ्यन्तर। बाह्य-कर्ण दो भागों में विभक्त है-एक शुष्कुली और दूसरा कर्णांजली। कान का वह भाग जो सूप की नाईं बाहर निकला होता है 'शुष्कुली' कहा जाता है। शुष्कुली और मध्यकर्ण को जोड़ने वाली नली-जो सामने से दिखाई देती है-कर्णांजली कही जाती है। शुष्कुली द्वारा शब्द के कम्पन एकत्रित होकर कर्णांजली द्वारा भीतर पहुँचते हैं।

मध्यकर्ण-यह शंखास्थि के भीतर रहनेवाली एक कोठरी है। इसमें तीन अस्थियाँ एक दूसरे से जुड़ी हुई रहती हैं। कोठरी की एक नली तालू तक गई है। जिव्हा द्वारा तालू में जिस छिद्र का हम अनुभव करते हैं, वह इसी नली का अन्तिम भाग है।

अभ्यन्तर कर्ण—यह एक थैली के सदृश किसी रस से भरा हुआ पदार्थ है। इसकी रचना अत्यन्त जटिल होने के कारण यहाँ वर्णित नहीं है। शब्द बाहर से आकर यहाँ क्षोभ उत्पन्न करता है। यह क्षोभ शब्द-वाहक सांवेदनिक तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाकर बोध प्राप्त कराता है।

शब्द के विषय में दार्शनिकों में बड़ा मत-भेद है। कई शब्द को नित्य मानते हैं और कई अनित्य। पहले प्रकार के

दार्शनिकों का मत है कि शब्द सर्वत्र विद्यमान है। वह आकाश का गुण, व्यापक, अभि-व्यक्ति धर्मवाला (अर्थात व्यापार से शब्द का केवल आविर्भाव होता है), और उत्पत्ति-विनाश से रहित है। कई उसे गन्ध आदि गुणों का सहचारी, और द्रव्य के आश्रित मानते हैं। दूसरे प्रकार के दार्शनिकों का मत है कि वह भूतों के क्षोभ से उत्पन्न होता है, किसी के आश्रित नहीं, और उत्पत्ति-विनाशवान् है। ऐसे दार्शनिकों का कथन है कि संयोग, विभाग या उच्चारण द्वारा शब्द की उत्पत्ति और उसका विनाश प्रत्यक्ष देखा जाता है। वह इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण अनित्य है।

दर्शन का यह विषय बड़ा गम्भीर है इसका वर्णन कर हम पाठकों का समय नहीं लेना चाहते। हमारे लिए यहाँ उतना ही जान लेना पर्य्याप्त है कि संयोग, विभाग, या उच्चारण द्वारा शब्द प्रकट होते हैं और इनका अनुभव हमें कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है।

वस्तुतः शब्दानुभव अनुमान से होता है। अर्थ या भाव शब्द का स्वभाव नहीं है। प्रत्येक शब्द का एक विशेष अर्थ निश्चित कर लिया गया है। उस शब्द की उत्पत्ति पर हमें उसका बोध होता है। यदि अर्थ शब्द का स्वाभाविक गुण होता तो एक शब्द से सब पुरुषों को एक ही बोध होता: परन्तु ऐसा नहीं पाया जाता। जैसे 'फूल' शब्द के उच्चारण से

हिन्दी जानने वालों को पुष्प का बोध होता है; पर अंग्रेजी जानने वाले उसका अर्थ 'मूर्ख' ऐसा समझते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ काल्पनिक है।

त्वगिन्द्रिय

त्वचा वह इन्द्रिय है, जिसके द्वारा हमें शीत-उष्ण, कठोरता-कोमलता, हलका-भारी, चिकना-खरदरा, आकार, क्षुधा, प्यास, दर्द, गुदगुदी आदि का ज्ञान होता है। सारे शरीर में स्नायुओं का एक जाल फैला हुआ है, उसमें यह इन्द्रिय व्याप्त है। यद्यपि त्वचा समस्त शरीर में व्याप्त है तथापि उसकी शक्ति सब दूर समान रूप से नहीं है। पदार्थ और त्वचा के संयोग से एक विकार उत्पन्न होता है, जो स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क में पहुँच कर उस पदार्थ का बोध कराता है। हाथों की हथेलियों में त्वचा शरीर के अन्य भागों से अधिक विकसित है।

रसनेन्द्रिय

रसना वह इन्द्रिय है, जिसके द्वारा रस या स्वाद का अनुभव हमें होता है। इसे ही जिव्हा या जीभ कहते हैं। यह मुख्यतः माँस की ही बनी है।

प्रथम किसी अन्य इंद्रिय द्वारा मस्तिष्क को पदार्थ की खबर जाती है। यह सूचना पाते ही मन की प्रेरणा द्वारा रसना-कणों में से एक द्रव पदार्थ निकलता है। इसे ही लार

कहते हैं। पदार्थ इस लार में घुलकर एक रसायन (रासायनिक क्रिया) उत्पन्न करता है। इस रसायन से स्नायुओं में एक प्रकार का संचलन उत्पन्न होता है; जो मास्तिष्क में पहुँचकर रसना का अनुभव कराता है।

हमारे यहाँ मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), तिक्त (कडुवा), लवण (नमकीन), कषाय (कसैला), और कटु (चरपरा) ये छः रस माने गए हैं। ये ही छः मौलिक रस हैं। इनके मिश्रण से और छत्तीस प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं। जैसे-मधुराम्ल, मधुरातिक्त, अम्ललवण, अम्लकटु, लवणकटु लवणातिक्त, कटुतिक्त, तिक्तकषाय, आदि।

जिव्हा को अपने विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए द्रव्य का लार में घुलना अत्यन्त आवश्यक है। जो पदार्थ इस लार में नहीं घुल सकता उसका बोध भी रसना को नहीं हो सकता। यह लार अन्य इन्द्रियों की प्रेरणा से बाहर आती है। इसी कारण भारतवर्ष में भोजन को हाथ से खाने की प्रथा प्रचलित है। भोज्य पदार्थ जितना स्वादिष्ट और हितकर होगा वह उतना ही सुन्दर और स्पर्श करने में कोमल होगा। हाथ से भोजन छूते ही उसकी प्रत्यभिज्ञा मन में जाग्रत होती है। इस कल्पना द्वारा स्वाद के लिए पर्य्याप्त लार मुँह में भोजन जाने के प्रथम ही उत्पन्न हो जाती है। योरोपवासी अभी इसके महत्त्व को पूर्ण रूप से नहीं समझ पाये हैं। जहाँ-तक मेरा

अनुमान है, यारोपीयनों की अपेक्षा भारतीयों की रसनेन्द्रिय अधिक समुन्नत है।

घ्राणेन्द्रिय

घ्राण—इस इन्द्रिय का स्थान नासिका है। इसके द्वारा हमें गन्ध का अनुभव होता है। नाक में दो छिद्र होते हैं-जिन्हें नथने कहते हैं। वह भाग जो नथनों में से दृष्टिगोचर होता है-नासागूहा कहा जाता है। नासिका को तर रखने लिए उसमें एक प्रकार का रस रहता है—जिसे श्लेष्म कहते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है है कि यह श्लेष्म मस्तिष्क से आता है, अपितु यह असत्य है। नासागुहाओं में सांवेदनिक सूत्र रहते हैं। पदार्थ के छोटे-छोटे कण इस श्लेष्म में मिलकर इन सूत्रों में क्षोभ उत्पन्न करते हैं, जो मस्तिष्क में जाकर गन्ध का अनुभव कराता है।

वैज्ञानिकों को अभी गन्ध का विस्तृत ज्ञान नहीं हो पाया है। इसी भाव को पदर्शित करते हुए प्रो० कॅकींस (Calkins) ने एक स्थान पर लिखा है:—"We have little scientific Knowledge of odors" जिन्होंने इस ओर अधिक ध्यान दिया है उनमें डच शरीर-शास्त्र विशारद जार्डमेकर (Zwaardemaker) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पर वे भी अभी मूल गन्धों का पता नहीं लगा सके।

साधारण जनता इसके दो-ही विभाग जानती है-एक सुगन्ध और दूसरा दुर्गंध । भारतीय शास्त्रों में इसके निम्नाङ्कित दस भेद पाए जाते हैं :–

१ इष्ट, जैसी कस्तूरी की,
२ मधुर, जैसे मधु की,
६ स्निग्ध, जैसे घृत की,
४ अम्ल, जैसे आम या आँवले की,
५ कटु, जैसे मिर्च की,
६ निर्हारी, जैसे हींग की,
७ संहत, जैसे चित्रगंध की,
८ रुक्ष, जैसे सरसों की,
९ विशद, जैसे चांवल की,
१० अनिष्ट, जैसे मुर्दे की ।

जीव-विज्ञानियों का कथन है कि उठी हुई नाक उन्नत मस्तिष्क का द्योतक है । सभी देश के लोग प्राचीन काल से इसके महत्त्व को समझते आए हैं । भारत में लम्बी नाक वाला व्यक्ति भाग्यवान् समझा जाता है । रोमन लोग भी जूलीयस केसर (Julius Cacsar) के सदृश लम्बी नाकवाले व्यक्तियों को अधिक चाहते थे । इसी भावको प्रकट करनेवाला लातीन भाषा में एक शब्द नेसूटस (Nasutus) है, जिसका अर्थ है- लम्बी और तीखी नाक वाला । वीर-केसरी नेपोलियन भी अधिकतर लम्बी नाक वाले व्यक्ति को पसन्द किया करता था ।

वह प्राय: कहा करता था कि लम्बी नाकवाला मनुष्य समुन्नत मस्तिष्क का होता है ।

मस्तिष्क

इस सम्बन्ध में आज कल बड़ा वाद चल रहा है । कुछ लोगों का कहना है कि मन के बिना मस्तिष्क कुछ कार्य नहीं कर सकता । जिसे हम मनोव्यापार कहते हैं वह केवल मस्तिष्क की क्रिया नहीं अपितु मन और मस्तिष्क दोनों का परिणाम है। दूसरे मत के अनुयाइयों का कथन है कि मन कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है । मस्तिष्क की क्रिया का नाम ही मन है । और मन कोई पदार्थ नहीं । जैसे पैरके पुट्ठों की हरकत का नाम चलना है, वैसे-ही मास्तिष्क की सेलों के संचलन का नाम मानसिक क्रिया है।

पहले मत से हमारे पाठक भली-भाँति परिचित हैं । दूसरा एक नव्य मत है । जॉन हापकीन्स विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध प्रोफेसर जॉन बी. वाट्सन इस मत के मुख्य प्रचारक हैं । आपने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए 'बिहेवियरीज़म' नामक एक ग्रंथ लिखा है; जिसने वैज्ञानिक जगत् में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है । भारतीय पत्रों में हम आपके बिचारों का उल्लेख कई बार कर चुके हैं । इस कारण यहाँ उस विषय की अधिक चर्चा कर अपने ग्रंथ के कलेवर को बढ़ाना अभीष्ट नहीं समझते । आप चाहे किसी भी मत के अनुयायी हों । चाहे आप मन को स्वतंत्र द्रव्य मानें या न मानें, इस पुस्तक

के समझने में आपको कोई कठिनाई नहीं होगी। हमें यहाँ केवल मास्तिष्क का वर्णन लिखना है। जिन्हें इसका विस्तृत वर्णन पढ़ना हो, वे डा० त्रिलोकीनाथ जी की पुस्तक "हमारे शरीर की रचना" को पढ़ें। यहाँ उसका वर्णन संक्षेप में ही लिखा जाता है।

सिर में जो माँस, मज्जा, और तन्तुओं का पिंड है, उसे मस्तिष्क कहते हैं। इसके दो विभाग हैं :- एक वृहत् और दूसरा लघु। पहला सामने और दूसरा पीछे की ओर वृहत् मास्तिष्क के नीचे और गर्दन के ऊपर है। मुख्यतः वृहत् मस्तिष्क का कार्य ज्ञान-सम्पादन और विचार करना है। लघु मस्तिष्क शरीर में साम्यावस्था रखता है।

समस्त शरीर में तन्तुओं का जाल फैला है। इन सबका सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इनके तीन प्रकार हैं:-

१ **ज्ञान-वाहक तन्तु**- इनके द्वारा बाह्य पदार्थों का संचलन मस्तिष्क तक पहुँचता है। इन्हें साँवेदानिक तन्तु भी कहते हैं।

२ **आज्ञा-वाहकतन्तु**-इनका सम्बन्ध मस्तिष्क और कर्मेंद्रियों से है।

३ **क्रिया-वाहक तन्तु**-इनके द्वारा शरीर के समस्त अभ्यन्तर कार्य होते हैं। जैसेः- पचन, रक्त-बहन, रस-प्रवाह, आदि। प्राचीन मत में ऐसी क्रियाओं को निष्काम (निस्= नहीं, काम=संकल्प) और नव्य मत में अनैच्छिक कार्य कहते हैं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राणी-विज्ञान के अनुसार खोपड़ी के भीतर जो मज्जा तन्तुओं का जाल और कोश हैं, चेतन व्यापार उन्हीं की क्रिया से सम्बन्धित है। इनमें क्रिया को ग्रहण करने और उत्पन्न करने दोनों की शक्ति है। इन्द्रियों के साथ विषयों के संयोग से संचलन नाड़ियों द्वारा भीतर की ओर जाता है, और कोशों को प्रोत्साहित कर परमाणुओं में उत्तेजना उत्पन्न करता है। भूतवादियों के अनुसार इन्हीं नाड़ियों और कोशों की क्रिया का नाम चेतना है, पर अधिकाँश लोग चेतना को एक स्वतंत्र शक्ति स्वीकार करते हैं।

मस्तिष्क एक वृहत् तार-घर के सदृश है। जैसे भिन्न २ देशों की खबरें तार द्वारा बड़े तार-घर में पहुँचती हैं, वैसे-ही इन तन्तुओं द्वारा बाह्य विषयों की खबर मस्तिष्क तक पहुँचती है। जैसे बड़ा तार घर एक स्थान पर स्थित होते हुए भी देश-देशान्तरों की खबरें प्राप्त कर लेता है और जैसे एक देश की खबर वह दूसरे देश को पहुँचा देता है, ठीक इसी प्रकार मस्तिष्क भी एक स्थान पर स्थित होते हुए इन तन्तुओं की सहायता से भिन्न २ कार्य करता है।

ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति तन्तुओं के उन्हीं अन्तिम भागों में है जो गोलकों में स्थित हैं। मध्यभाग में संवेदनों को मस्तिष्क तक पहुँचाने की ही शक्ति है। यदि गोलक को छोड़ विषय का सम्बन्ध ज्ञान-तन्तु के किसी भी अन्य भाग से किया जाय तो उसका अनुभव न होगा।

तीसरा अध्याय ।

इन्द्रियाँ (शेषांश) ।

द्वितीय अध्याय में इन्द्रियों का साधारण वर्णन दिया गया है । इन्द्रियों के संबन्ध में अनेक मत-भेद है । भारतीय दर्शनों के पढ़ने से यह अभिज्ञात होता है कि यह मतभेद कोई नई बात नहीं है । इस मतभेद का दिग्दर्शन कराते हुए हम अपना मन्तव्य प्रकट करेंगे । इसके उपरान्त इन्द्रियों के विकास का वर्णन होगा । विषय को सुगम बनाने के लिए यह वर्णन प्रश्नोत्तर रूप में लिखा गया है ।

प्रश्न—त्वचा सारे शरीर में व्याप्त है । शरीर का कोई अवयव ऐसा नहीं जहाँ त्वचा न हो । अतः इन्द्रिय केवल एक ही है, पाँच नहीं ।

उत्तर—अन्य इन्द्रियों के अर्थों का बोध त्वचा से नहीं होता । जैसे, त्वचा स्पर्श का बोध करा सकती है, रूप या गंध का नहीं । इस कारण त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं हो सकती ।

प्रश्न—इस पुस्तक के पिछले अध्याय में यह लिखा गया है कि त्वचा की शक्ति भिन्न २ अवयवों में भिन्न २ है । इसी कारण जो त्वचा आँख में है वह रूप का, जो जिव्हा में है वह रस का ग्रहण करती है ।

उत्तर-क—पिछले अध्याय में जो लिखागया है उसका तात्पर्य यह है कि भिन्न २ स्थानों में त्वचा की शक्ति भिन्न २

परिमाण (डिग्री) में है। उसका यह भाव किंचित भी नहीं है कि इसकी शक्ति भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न २ गुणवाली है।

ख–प्रथम आपने कहा था कि त्वचा ही एक इन्द्रिय है और अब आप कहते हैं कि त्वचा के एक भाग में देखने की शक्ति है और दूसरे में रस को ग्रहण करने की। यह प्रतिज्ञान्तर दोष है। जब आप त्वचा को ही एक इन्द्रिय मानते हो तो उसके भाग-विशेष में देखने की शक्ति कैसी ?

ग–आप त्वचा को सारे शरीर में व्याप्त मानते हो। अब उसे भागवाली वस्तु स्वीकार करते हो। किन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भागवाली वस्तु सारे शरीर में कभी व्याप्त नहीं हो सकती।

घ–यदि त्वचा ही एक इन्द्रिय होती तो एक साथ सब विषयों का बोध हो सकता, पर ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि भिन्न २ समय में भिन्न २ स्थानों से अनेक विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ अनेक हैं, एक नहीं।

ङ–पदार्थ को स्पर्श करने से रूप का बोध नहीं होता। यदि त्वचा ही एक इन्द्रिय होती तो पदार्थ के स्पर्श-मात्र से उसके रूप, गन्ध आदि का बोध हो जाता।

च–इन्द्रियों के पाँच विषय भिन्न २ होने से भी त्वचा एक इन्द्रिय सिद्ध नहीं होती।

प्रश्न-हम विकासवादी हैं। पहले एक ही इन्द्रिय थी। धीरे २ विकास होता गया और अब वे पाँच हो गई हैं।

उत्तर-विकास वस्तु का होता है, अवस्तु का नहीं। बीज का विकास वृक्ष में होता है; जो गुण बीज में होते हैं, वे-ही वृक्ष के रूप में बिकसित होते हैं। वृक्ष में ऐसी कोई शक्ति नहीं आती, जो उसके कारण बीज में न हो।

यदि त्वचा से विकसित होकर नेत्रादि इन्द्रियाँ बन गईं तो त्वचा में अन्य इन्द्रियों की शक्तियाँ होनी चाहिये। यदि कहो कि पहले थीं अब नहीं रहीं तो यह विकास नहीं किन्तु नाश हुआ। यदि कहो कि पहले भी न थीं तो पुनः विकास किसका मानते हो।

विकास सम्पूर्ण वस्तु का होता है, भाग विशेष का नहीं। त्वचा के किसी भाग का आँख के रूप में और किसी का कर्ण के रूप में परिणत हो जाना त्वचा का विकास नहीं माना जा सकता।

प्रश्न—बोध के लिये पदार्थ के स्पर्श की आवश्यकता है। स्पर्श त्वचा का धर्म है। इससे सिद्ध होता है कि त्वचा ही एक इन्द्रिय है।

उत्तर-स्पर्श त्वचा का धर्म नहीं, वह त्वचा का कार्य है। इससे सिद्ध होता है कि त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं, अपितु इन्द्रियाँ अनेक हैं।

कई लोग उपयोगिता की दृष्टि से इन्द्रियों का क्रम इस प्रकार मानते हैं—१ त्वचा, २ चक्षु, ३ श्रोत्र, ४ घ्राण और ५ रसना। हमने वह क्रम इस प्रकार रक्खा है—१ चक्षु, २ श्रोत्र, ३ त्वचा, ४ रसना, और ५ घ्राण। अर्थात् कई लोगों के मत में त्वचा और हमारे मत में नेत्र सब से अधिक उपयोगी इन्द्रिय है। इस मत का प्रतिपादन निम्नलिखित हेतुओं से किया जाता है:—

१ नेत्र से दूरस्थ पदार्थों का बोध होता है, परन्तु त्वचा से केवल स्पर्श किये हुए पदार्थों का ही ज्ञान होता है।

२ यह अन्य इन्द्रियों को सहायता देकर उनके परिश्रम को न्यून करती है। पदार्थ को देख कर हमें न केवल उसके वर्ण और आकार का ही बोध होता है, परन्तु उसकी कोमलता कठोरता, दूरी आदि का भी बोध हो जाता है।

३ नेत्र में दूसरे मनुष्यों को प्रभावित करने की शक्ति है।

४ नेत्र द्वारा मानसिक भाव प्रकट किए जा सकते हैं।

५ शिक्षा में जितना उपयोग नेत्र का होता है उतना त्वचा का नहीं। शिक्षा से ही हमें मनुष्यत्व प्राप्त होता है, इसी कारण त्वचा से नेत्र को श्रेष्ठत्व है।

बोध प्राप्त करने के लिए प्रथम इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होता है। इस संयोग से ज्ञान-वाहक तन्तुओं में संवेदन उत्पन्न होता है। यह संवेदन मन में जो परिणाम उत्पन्न करता

है उसे कल्पना या संवित् कहते हैं। हमें इसी संवित् का बोध होता है, पदार्थ का नहीं। इसी कारण कहा जाता है कि हमारा ज्ञान संवित्-मय है। जिन्होंने इस तत्व को नहीं समझा वे अपने अज्ञान के कारण इस संसार को भी संवितमय समझते हैं। यहाँ यह बात स्मरण रख लेनी चाहिए कि इस संसार के विषय में हमारा ज्ञान संवित-मय है—यह संसार संवितमय नहीं।

कई लोग इस सिद्धान्त में आपत्ति उपस्थित करते हैं। उनका कथन है कि हमें संवित् का बोध नहीं होता किन्तु पदार्थ का होता है। यहाँ हम यह जता देना आवश्यक समझते हैं कि संवित् पदार्थ से ही उत्पन्न होता है। हम जिसे संवित् कहते हैं वह अनुमान नहीं परन्तु इन्द्रिय और अर्थ का मन पर परिणाम है।

जब इन्द्रिय और विषय का संयोग होता है, तभी संवित् की उत्पत्ति संभव है। बिना इस संयोग के संवित् का होना असम्भव ही है। यदि हम यह मान लें कि अनुभव संवित् का नहीं किन्तु पदार्थ का होता है तो यह मानना पड़ेगा कि इन्द्रियों में विषयों तक जाने की शक्ति है, जो कि प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

इसके खण्डन में दूसरा हेतु यह है कि इन्द्रियाँ भौतिक साधनों की सहायता से सूक्ष्म और दूरस्थ पदार्थों को स्थूल एवं समीप देख सकती हैं। पदार्थ का आकार और दूरी भौतिक यन्त्रों द्वारा अपरिवर्तनीय है। हाँ, वे उसके प्रतिबिम्ब को घटा-

बढ़ा सकते हैं। जिन्होंने भौतिक विज्ञान पढ़ा है वे इस सिद्धान्त को भली-भाँति समझ सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हम पदार्थानुभव नहीं करते किन्तु वस्तु के प्रतिबिम्ब का ही ज्ञान प्राप्त करते हैं।

तीसरा हेतु—यदि हम पदार्थ को देखते होते तो एक पदार्थ का बोध भिन्न २ व्यक्तियों में भिन्न २ नहीं होता।

चौथा हेतु—यदि हमारी इन्द्रियों में पदार्थ तक जाकर उसके अनुभव करने की शक्ति होती, तो एक समय में हम पदार्थ के चारों ओर देख सकते। पर प्रत्यक्ष में हम यह देखते हैं कि पदार्थ का वही भाग दिखाई देता है जिस (भाग) की किरणें दृष्टि-पटल पर आ सकती हैं, शेष भाग का ज्ञान नहीं हो पाता।

इन्द्रियानुभव का कार्य कैमरे के सदृश है। जैसे उस यन्त्र में प्रकाश की किरणें कांच में से आकर प्लेट पर अपने पदार्थ का प्रतिबिम्ब बना देती है, ठीक इसी प्रकार इन्द्रिय रूपी काँच में से विषयों की तरंगें आकर दृष्टि-पटल पर अपना प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती हैं। इन दोनों में भेद केवल इतना ही है कि कैमरे को न अपने अस्तित्व का ही अनुभव है और न उस प्रतिबिम्ब का; किन्तु मन को इन दोनों बातों का ज्ञान होता है। जहाँ उसे अपने होने की खबर है वहाँ वह प्रतिबिम्बों में भी परिवर्तन और संशोधन कर सकता है।

इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से जो परिणाम उत्पन्न होता है, क्या वह पदार्थ है? नहीं, वह पदार्थ नहीं, वह बाह्य जगत् की क्रिया नहीं, किन्तु एक मनोव्यापार है–वह हमारे अन्तर्जगत् का संवित् है। प्रत्येक संवित को ग्रहण करने के प्रथम मन उसे अपना लेता है, उस पर अन्तर्जगत् की छाप लग जाती है। अतः, यह स्वतन्त्र रूप से कहा जा सकता है कि हमें जो कुछ भी ज्ञान होता है वह चेतना में आई हुई कल्पनाओं का है। अन्धा रूप को ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि रूप का संवित् उसकी चेतना में नहीं जा सकता, बहिरा शब्द का ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि शब्द का संवित् उसकी चेतना में नहीं जाने पाता। इस से सिद्ध होता है कि हमारा अनुभव वास्तव में संवितों का अनुभव है और इन्हीं संवितों पर हमारा मनोव्यापार निर्भर है।

यों तो संवित् के अनेक प्रकार हैं क्योंकि संसार में पदार्थ असंख्य है। जैसे पदार्थों की गणना मानवी शक्ति से परे है, ठीक इसी प्रकार कल्पनाओं की गणना भी हमारी शक्ति से परे की बात है। यह भी कोई आवश्यक नहीं कि संवित् उतने ही होते हैं, जितने पदार्थ संसार में हैं; क्योंकि संवित् के लिये इन्द्रिय और अर्थ का संयोग अपेक्षित है। निस्संदेह आप में से कई व्यक्तियों ने ऐसी भी कल्पनाओं का अनुभव किया होगा, जिन्हें आपने इन्द्रियों द्वारा कभी ग्रहण नहीं किया है। हम इन्हें कृत्रिम संवित् कहते हैं। ये क्यों और

कैसे उत्पन्न होते हैं इनका विषद वर्णन उत्तरार्ध में किया जायगा ।

प्रत्येक इन्द्रिय का अपना उद्भावक निश्चित है । उसी उद्भावक से उस इन्द्रिय और तत्संबंधित तन्तुओं में उत्तेजना उत्पन्न होती है । कोई भी उद्भावक अपनी इन्द्रिय को छोड़ अन्य इन्द्रियों में उद्भावना उत्पन्न नहीं कर सकता । शब्द कान में संवेदन उत्पन्न कर सकता है, आँख या नाक में नहीं; इसी प्रकार रूप आँख में ही उत्तेजना उत्पन्न करेगा, अन्य इन्द्रियों में नहीं । इन्द्रियों का यह नियम अटल और अपवाद रहित है ।

अब आप इस बात को पूर्णतः समझ गये होंगे कि ज्ञान संवितों से होता है और संवित् इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं । यदि इंद्रियों में कोई दोष आगया या किसी कारण इंद्रियाँ क्षीण हो गईं तो संवितों पर उसका परिणाम अवश्य पड़ेगा; इसमें यत्किंचित भी संदेह नहीं । जैसे उत्तम भूमि और अनुकूल जल-वायु के होते हुए भी खराब बीज से अच्छी कृषि नहीं होती, इसी प्रकार क्षीण इंद्रियों के कारण दुर्बल संवितों से उत्तम-से-उत्तम मस्तिष्क भी कोई अच्छा कार्य्य नहीं कर सकता । जैसे शरीर का विकाश खाद्य-पदार्थों पर निर्भर है, शरीर की ऐसी कोई क्रिया नहीं जो भोजन के अभाव में अपना कार्य जारी रखे ठीक वैसे-ही मन की कोई क्रिया ऐसी नहीं जो संवितों पर निर्भर न हो ।

कल्पना कीजिये कि आपकी इंद्रियाँ अपने-अपने कार्यों में परिवर्तन करना चाहती हैं। आँख ने सुनने का और कान ने देखने का कार्य आज से निश्चय किया। ऐसी अवस्था में जिस आँख से आज-तक आप रूप का ग्रहण करते आये हैं, उससे अब शब्द को सुनेंगे। इसी प्रकार कान शब्द की अपेक्षा रूप का ग्रहण करेगा। जहाँ इतर जन आँख से देखते हैं वहाँ आप कान लगा कर सुनेंगे और जहाँ वे कान से सुनते हैं, वहाँ आप आँखें निकालकर बड़े ध्यान-पूर्वक देखेंगे। ऐसी अवस्था में आप और हम में महान् अन्तर होगा। अब आप वे आप नहीं रहे जो आज-तक थे किंतु संसार के लिये एक अद्भुत व्यक्ति बन गये। आपके अनुभव के ढंग, कार्य करने की शैली, और विचार करने की प्रणाली बिलकुल परिवर्तित हो जायगी, इसमें संदेह नहीं।

यह केवल निरी कल्पना है। न आप कभी ऐसे हो सकते हैं और न कभी कोई ऐसा बनने की इच्छा ही करता है। इस दृष्टान्त से हमारा हेतु केवल यही है कि पाठकों की समझ में यह बात भली-भाँति आजाय कि हमारा समस्त कार्य इन इंद्रियों पर ही अवलम्बित है।

अणुवीक्षण-यन्त्र लिये हुए एक व्यक्ति साधारण व्यक्ति से कितना अधिक देख सकता है और अर्धान्ध मनुष्य कितना कम देखता है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। इन दोनों मनुष्यों के अन्तर्जगतों में जो भेद होगा उसका अनुमान साधा-

रणतः किया जा सकता है। यह भेद किसी अन्य कारण से नहीं अपितु इन्द्रियों के शक्ति-भेद से ही है।

प्रकृति देवी की सम्पूर्ण उपज का एक बहुत अल्पांश ही हमें अनुभव होता है, शेष सब अज्ञात रह जाता है। प्रकाश की कई किरणें ऐसी हैं जिनका ज्ञान हमारे नेत्र प्राप्त नहीं कर सकते। शब्द की कई लहरें हम निरे कान द्वारा नहीं ग्रहण कर सकते। इन सब का मुख्य कारण यही है कि हमारी इन्द्रियों की शक्ति न्यून है। इन्द्रियानुभव के लिए प्रकाश आदि की किरणों के एक नियत समूह की आवश्यकता है, इसकी न्यूनता में इन्द्रियों में संवेदन उत्पन्न नहीं होता। अणुवीक्षण आदि यन्त्र इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि हम अपनी आँखों से संसार के सब पदार्थों को नहीं देख सकते। प्रकृति के असंख्य पदार्थ ऐसे हैं जिनके अस्तित्व तक की कल्पना हमें नहीं होती।

वैज्ञानिकों ने इन्द्रियों के महत्व को समझा। इनकी शक्ति को समुन्नत करने के लिए प्राण-पण से चेष्टा की। परन्तु अभी-तक ऐसे ही यन्त्र बन पाये हैं जिनके द्वारा नेत्र और कर्ण की शक्ति बढ़ सकती है। त्वचा, जिह्वा, और नासिका की शक्तियों को बढ़ाने के भौतिक साधन अभी नहीं बन पाये हैं।

इन्द्रियों से सब पदार्थों का बोध नहीं होता। इनकी शक्ति बहुत परिमित है। कई विषय ऐसे हैं जिनका बोध हमें किसी भी इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता, चाहे उसकी शक्ति उन सब यन्त्रों

से क्यों न बढ़ा दी जाय जो विज्ञान द्वारा आज-तक आविष्कृत हुए हैं। यदि कोई व्यक्ति लकड़ी पर खड़ा होकर बिजली वाले तार को छूए तो वह उसका अनुभव न कर सकेगा। वह इन इन्द्रियों द्वारा यह नहीं कह सकता कि अमुक पदार्थ में विद्युत है या नहीं; इसका निर्णय करने के लिए उसे अन्य साधनों का आश्रय लेना पड़ता है।

यदि हम में बिजली की लहरों का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति होती तो हम बिना यन्त्रों की सहायता के देश-देशान्तरों की बातें सुनते, पेरीस की नाट्यशाला के दृश्य का आनन्द घर बैठे लूटते, लोक-लोकान्तरों के निवासियों से बात-चीत करते, और यदि हम में एक्स-रेज (× Rays) के सदृश कोई इन्द्रिय होती तो संसार के गुप्त-से-गुप्त पदार्थ को भी हम हस्तामलक-सा समझते। इन इन्द्रियों के अस्तित्व में हम वे मनुष्य नहीं रहते जो आज हैं। उस समय हमारी पहुँच कहाँ तक होती और हम क्या २ कार्य्य कर सकते, यह बात इस समय अनुमेय नहीं। इसी कारण प्रसिद्ध वैज्ञानिक एज़ाक टेलर ने कहा है :—“ मत समझो कि संसार के पदार्थ उतने ही हैं; जितने हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, इसके विपरीत बिलकुल सत्य है चाहे आप इसे सर्वांश में सत्य न मानें।”

पाश्चात्य वैज्ञानिकों का कथन है कि इन्द्रियाँ केवल पाँच ही नहीं रहेंगी। इनका विकास धीरे २ हो रहा है और कालान्तर में मनुष्य को अनेक इन्द्रियाँ प्राप्त हो जायँगी। हम इससे

किंचित भी सहमत नहीं हैं। हमारा मत है कि इन्द्रियाँ पाँच ही रहेंगी। किसी भी देश के सहस्रों वर्षों के प्राचीन इतिहास के पढ़ने से यह ज्ञात नहीं होता कि किसी समय में मनुष्य को चार या उससे भी कम इद्रियाँ थी। इंद्रियाँ न कभी कम हुई हैं और न कभी अधिक होंगी। हाँ, यह बात निःसंकोच मानी जा सकती है कि इन्द्रियों की शक्ति में अन्तर हो सकता है अर्थात् सब मनुष्यों की इन्द्रियाँ समान शक्तिवाली नहीं होतीं। परन्तु इन्द्रियों की संख्यावृद्धि के सिद्धान्त के हम विरोधी हैं। यहाँ उक्त सिद्धान्त की आलोचना की जाती, किन्तु जिनके लिये यह पुस्तक लिखी जा रही है वे विज्ञान के वे ही विद्यार्थी हैं जिन्हें इन्हीं पाँचों इन्द्रियों से कार्य्य करना पड़ेगा। इस सिद्धान्त के मानने-न मानने से वर्तमान में हमें कोई लाभ या हानि नहीं दिखाई देती और दूसरे विषयान्तर हो जाने से हम इस विषय में कुछ अधिक लिखना अनावश्यक ही समझते हैं।

हमारा समस्त व्यापार अनुभवाश्रित है। जिस व्यक्ति में अनुभव की प्रचुरता है वही दक्ष कहलाया ज ता है। उसी मनुष्य की अन्यान्य मानसिक शक्तियाँ उन्नत हो सकती है। अनुभव इन्द्रियों के विकास पर निर्भर है। जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ विकसित हैं, वह बड़ी शीघ्रता से गम्भीर विषय को भी ग्रहण कर लेगा किन्तु जिसकी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण है वह अधिक परिश्रम से भी इतना लाभ न उठा सकेगा।

आधुनिक शिक्षा के विद्यार्थी इंद्रियों के महत्व को नहीं समझते। उन्हें इस बात की स्वप्न में भी कल्पना नहीं होती

कि विज्ञान के क्षेत्र में इंद्रियाँ कहाँ तक अपेक्षित हैं। उनका ध्यान सदा पुस्तकों के रटने की ओर ही लगा रहता है। वे समझते हैं कि जैसे ठिंगना व्यक्ति ऊँचा नहीं बन सकता और जैसे हब्शी कभी सुंदर नहीं होता, चाहे कितना ही श्रम क्यों न किया जाय, वैसे-ही मनुष्य की इंद्रियाँ भी कभी विकसित नहीं होतीं—उनकी शक्ति ठीक उतनी ही रहेगी जितनी उन्हें जन्म से प्राप्त है। सम्भव है, इसी कारण वे कभी इस ओर ध्यान नहीं देते। जिसे जो इंद्रिय जिस दशा में प्राप्त है उससे ही वह संतुष्ट रहता है।

प्यारे भाइयो! यदि आप अभी-तक यही सोचते रहे हैं--यदि अभी-तक आपकी यही धारणा रही है, तो आज से उसे छोड़ दीजिये। 'जो शक्ति है वह अवश्य ही बढ़ेगी' इस सिद्धान्तानुसार आज से यह विश्वास दृढ़ रखिए कि हमारी प्रत्येक इंद्रिय की शक्ति बढ़ सकती है और हम सब उसके बढ़ाने के लिए यत्न करेंगे।

इंद्रियों की शक्ति बढ़ाने के दो साधन मुख्य हैं--(१) ध्यान, (२) यन्त्र। प्राचीन काल में पहला साधन मुख्य था और अर्वाचीन काल में दूसरा मुख्य है। इसका तात्पर्य कोई यह न समझले कि प्राचीन समय में यंत्रों का सर्वथा अभाव ही था या वर्तमान में ध्यान का उपयोग ही नहीं होता। मेरा उद्देश्य साधनों की प्रधानता से है, किसी के अभाव से नहीं।

अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा बड़ी सरलता से छोटे-छोटे कीड़ों का पता लग सकता है, दूरबीन से दूर २ के ग्रहों का पता लगता है, एक्स-रेज़ से जीवित मनुष्य की हड्डियाँ देखी जा सकती हैं। अर्थात् भौतिक यंत्रों की सहायता से हमारी इंद्रियों की शक्तियाँ बहुत बढ़ सकती हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिये सब यंत्रों का उपयोग आवश्यक नहीं। जिस मनुष्य को जिस प्रकार की आवश्यकता हो, वह उस प्रकार के यन्त्रों का संग्रह करे।

हमें केवल यन्त्रों पर ही निर्भर न रहना चाहिए। यह सिद्ध हो चुका है कि ध्यान द्वारा भी इन्द्रियों की शक्ति बहुत बढ़ सकती है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इस ओर भी बहुत परिश्रम किया है। वॉलेण्टिन नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने ध्यान द्वारा रसनेन्द्रिय को इतनी उन्नत करली थी कि वह क्विनाइन के मिश्रण के $\frac{१}{१००२००}$ कटुता को पहचान जाता था। डॉ० मॉयस (Dr. Moyse) एक अन्धे तत्व-वेत्ता थे, परन्तु ध्यान की सहायता से उन्होंने अपनी गन्धानुभव की शक्ति को इतनी बढ़ा ली थी कि वे कपड़े को सूँघकर ही उसके रंग को ताड़ जाते थे।

भौतिक यन्त्र सुलभ हैं। इस कारण उनके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। अब अगले अध्याय में ध्यान का विचार किया जायगा।

चौथा अध्याय

ध्यान

ध्यान—'चित का अकेले या इन्द्रियों के सहित किसी विषय की ओर लक्ष्य जिससे उस विषय का स्थान अन्तःकरण में सब के ऊपर हो जाय। चित्त का चारों ओर से हटाकर किसी एक विषय पर स्थिर करने की क्रिया'- हि. श. सा.।

ध्यान के दो प्रकार हैं—एक सकाम और दूसरा निष्काम। सकाम शब्द सं+काम से बनता है, स=सहित और काम*=इच्छा, इसलिए सकाम शब्द का अर्थ होता है—इच्छा के सहित अर्थात् ऐच्छिक; निष्काम=निस्+काम=इच्छा के रहित=अनैच्छिक। इच्छित पदार्थ की ओर ध्यान लगाना सकाम-ध्यान और अपनी इच्छा के विरुद्ध (या बिना) किसी पदार्थ की ओर चित्त का आकृष्ट हो जाना निष्काम-ध्यान है। मान लीजिए, मैं एक पुस्तक अपनी इच्छा से पढ़ रहा हूँ; जो ध्यान इस पुस्तक की ओर है वह सकाम-ध्यान है। परन्तु इस समय बाहर से ढ़ोल का तीव्र शब्द सुनाई दिया, मेरा ध्यान पुस्तक से हटकर उस ढ़ोल की ओर आकर्षित हो गया, यह निष्काम ध्यान का उदाहरण है। सकाम ध्यान के विषय को ध्येय और निष्काम-ध्यान के विषय को उद्भावक कहते हैं।

---

* कमु कान्तौ, कान्तिरिच्छा।

प्रत्येक ध्यान में ध्याता के अतिरिक्त ध्येय या उद्भावक की आवश्यकता होती है। इसके बिना ध्यान सम्भव नहीं। ध्यान में मन ध्येय से तल्लीन हो जाता है। बहिर्जगत् के समस्त पदार्थों से मन सूक्ष्म है, इस कारण वह इनके रोके नहीं रुकता। जो लोग स्थूल पदार्थों से मन का अवरोध साध्य समझते हैं, उन्हें इस सिद्धान्त पर विचार करना चाहिए। ध्येय सदा मानसिक होता है। हाँ, भौतिक पदार्थ उसके निमित्त अवश्य हो सकते हैं। इसी भाव को महादेव वेदान्ती ने भी अपनी सांख्यसूत्रवृत्ति में दर्शाया है। वे लिखते हैं :—'ध्याने दर्शनं नापेक्ष्यतेऽपितु ज्ञानम्' अर्थात् ध्यान में किसी वस्तु के देखने की आवश्यकता नहीं; ध्यान तो ज्ञान-मात्र से होता है। और भी :—

१ अध्यस्तस्योपदिष्टस्य रूपस्य स्वरूस्य।

सा० सू० वृ०

२ गुरुभिरूपदिष्टं रूपमध्यस्तरूपम्।

हरिप्रसाद कृत वैदिक वृत्ति

३ अध्यस्तरूपोपास्नात्........... ।

सां० द० ४·२१

सकाम-ध्यान की अपेक्षा उद्भावकों द्वारा उत्पादित ध्यान सरल एवं व्यापी है। उद्भावकों के निम्न लिखित चार प्रकार हैं:—

(१) उत्तेजक—ये वे पदार्थ हैं जिनके द्वारा मन और इन्द्रियों में तीव्र आवेग उत्पन्न होता है। ये अपनी उत्तेजक शक्तियों से मन को अपने ध्येय से विचलित कर अपनी ओर

आकर्षित कर लेते हैं। इनके दो उपभेद हैं—(१) सुखद और (२) दुखद। पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक सफल होता है। यदि हमारे सम्मुख प्रियजनों का समूह और घातक शत्रु दोनों विद्यमान हों, तो प्रथम हमारा ध्यान शत्रु की ओर ही झुकेगा और सब-से प्रथम हम उससे ही मुक्त होने के लिये चिन्तित होंगे।

(२) वैचित्र्य—केवल मनुष्य ही नहीं, किन्तु प्राणी-मात्र विचित्रता का उपासक है। साधारण पदार्थों की अपेक्षा विचित्र वस्तुएँ हमारा ध्यान शीघ्र आकर्षित कर लेती हैं। तमाशे, खेल, आदि में रोचकता तभी तक रहती है; जब तक उसमें विचित्रता है। कुछ लोगों का अभिप्राय विचित्रता से सृष्टि-क्रम के विरुद्ध कृत्यों का है। परन्तु यह उनकी भूल है। वास्तव में किसी कार्य के नियमों को और उसके गूढ़ रहस्य को न समझ सकना ही उसकी विचित्रता है। जो पदार्थ नवीन होने के कारण उद्भावक हैं वे भी इसी प्रकार में सम्मिलित हैं।

(३) रुचि—रुचि कर पदार्थों की ओर ध्यान सहज में खिंच जाता है। बाजार जाते समय हम सहस्रों वस्तुएँ देखते हैं पर ध्यान उसी ओर जाता है जिधर रुचि के अनुकूल पदार्थ होते हैं।

हमारी रुचि या अरुचि किसी पदार्थ की ओर स्थायी नहीं रहती। वह परिवर्त्तनीय है। रेलवे की समय-सूची साधा-रणतः एक बड़ी रूखी वस्तु है, किन्तु जिस दिन हमें बड़ी

यात्रा करनी होती, है उस दिन वही सूची हमारे लिए बड़ी रोचक हो जाती है ।

(४) परिमाण–ध्यान को आकर्षित करने में वस्तु का परिमाण भी सहायक है । यदि हमारे सम्मुख हाथी और श्वान दोनों साथ २ आवें तो श्वान की अपेक्षा हाथी की ओर ध्यान पहले आकृष्ट होगा । इसी नियम को ध्यान में रख कर विज्ञापनदाता अपने विज्ञापनों को अन्यों के बनिस्बत् मोटे अक्षरों में छपवाते हैं ताकि पाठकों का ध्यान उस ओर शीघ्रता से खिंच जाय ।

संवेदन के सदृश उद्भावना भी इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होती है । इन दोनों में भेद यह है कि उद्भावना में तीव्रता रहती है और संवेदन में तीव्रता का अभाव रहता है । संवेदन और उद्भावना दोनों के लिये ध्यान अपेक्षित है, पर उद्भावना अपनी तीव्रता के कारण विशेष ध्यान को आकर्षित कर लेती है ।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों से हमारा यहाँ मत-भेद है । उसे प्रकट कर देना आवश्यक है । इनका कथन है कि जैसे ध्यान का आकर्षण उद्भावक की तीव्रता पर निर्भर है वैसे-ही उद्भावना की तीव्रता भी ध्यान के अनुपात पर निर्भर है । इनके मतानुसार ध्यान से अनुभवशक्ति ही नहीं बढ़ती प्रत्युत उद्भावना की तीव्रता भी बढ़ जाती है । हमारा मत इसके विपरीत है ।

हम मानते हैं कि उद्भावना की तीव्रता से ध्यान बढ़ सकता है। पर ध्यान की तीव्रता उद्भावना की शक्ति को नहीं बढ़ा सकती। हम अपने सिद्धांत की वकालत करना नहीं चाहते; अतः दोनों पक्षों के सिद्धांतों को स्पष्ट करते हुए उनके सत्यासत्य के निर्णय का भार विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ देते हैं।

प्रो० बाल्डिवन (Prof. Ba'dwin) मनोविज्ञान के एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। आपने अपनी पुस्तक 'Hand book of Psychology' के पृष्ठ संख्या ७३ में लिखा है:—

"Attention directed to a sensation increases its intensity,..............The attention may give them increased and very acute intensity. By fixing the attention upon bruises and burns, we increase the pain they give us." अन्यत्र भी लिखा है:- "The intensity of sensation depends largely upon the degree of the attention bestowad upon it." अर्थात् "संवेदन की ओर ध्यान लगाने से उसकी तीव्रता बढ़ जाती है.... ....ध्यान संवेदनों की तीव्रता बढ़ा सकता है। चोंट, जलन, या जखम से जो दुःख वर्तमान में हो रहा है, वह ध्यान द्वारा बढ़ाया जा सकता है। संवेदनों की तीव्रता ध्यान के आश्रित है। जिस संवेदन की ओर जितना ध्यान अधिक होगा उसकी तीव्रता उतनी ही अधिक होगी।"

यद्यपि हम अपना मत ऊपर दर्शा चुके हैं, तथापि उसे यहाँ और स्पष्ट कर देते हैं। इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से संवेदन उत्पन्न होता है। संवेदन की उत्पत्ति के लिये ध्यान आवश्यक नहीं, किन्तु उसके अनुभव के लिये ध्यान अनिवार्य है। यहाँ संवेदन से हमारा तात्पर्य संवेदन और उद्भावना दोनों से है।

हम सभी जानते हैं कि सुप्त मनुष्य का ध्यान स्वप्न की ओर रहता है। यदि संवेदन के लिये भी ध्यान अनिवार्य होता तो वह किसी भी उद्भावक द्वारा न उठता; क्योंकि आपके मतानुसार उद्भावना या संवेदन बिना ध्यान के उत्पन्न ही नहीं होता। एक व्यक्ति विचार में इतना तल्लीन है कि उसे अन्य किसी बात की खबर नहीं है। ऐसे मनुष्य के किसी अङ्ग में पिन चुभोकर उसका ध्यान उस विषय से हटाया जा सकता है। किसी उद्भावना द्वारा ध्यान को एक विषय से हटाकर दूसरी ओर लगा देना इस बात को सिद्ध करता है कि उद्भावना के लिये ध्यान अपेक्षित नहीं है।

अब रही यह बात कि ध्यान उद्भावना की तीव्रता को बढ़ा सकता है या नहीं। हमारा मत है कि ध्यान से तीव्रता नहीं बढ़ती। एक चींटी का काटा हुआ दुःख सदा उतना ही रहेगा, चाहे उसकी ओर कितना ही ध्यान लगाया जाय। उसका दुःख कभी-भी बिच्छू के काटे हुए के सदृश नहीं हो

सकता। हाँ, हम इस सिद्धान्त के पोषक हैं कि न्यूनाधिक ध्यान से उद्भावना का अनुभव न्यूनाधिक किया जा सकता है।

यदि यह बात स्वीकार करली जाय कि उद्भावना की तीव्रता ध्यान द्वारा बढ़ाइ जा सकती है तो उसकी वास्तविक शक्ति का पता ही न चलेगा। पुनः हमें यह कहने का कोई अधिकार न होगा कि अमुक उद्भावना तीव्र है या मन्द। संसार के समस्त पदार्थ समान परिणाम वाले मानने पड़ेंगे, केवल ध्यान ही प्रधान रहेगा। किन्तु यह बात अनुभव से सिद्ध नहीं होती।

प्रतिदिन सहस्रों संवेदन और कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं किन्तु अनुभव उन्हीं का होता है जिनकी ओर ध्यान दिया जाता है। ध्यान के अभाव में अनुभव नहीं होता। स्मृति भी सभी कल्पनाओं की नहीं होती; केवल क्षोभोत्पादक कल्पनाएँ ही स्मरण रहती हैं। जिस पदार्थ में जब-तक यह क्षोभ-शक्ति रहती है तब-तक उसकी स्मृति बढ़ती जाती है। जब क्षोभ होना बन्द हो जाता है तब संस्कारों की वृद्धि भी रुक जाती है। किसी पदार्थ के बार-बार प्रयोग करने से उसकी क्षोभ-शक्ति क्षीण होती है।

विज्ञान में सकाम-ध्यान की बड़ी आवश्यकता है। बिना इस ओर अभ्यास किये कभी सफलता प्राप्त नहीं होती। इस कारण अब हमें इसका विचार करना है।

जहाँ-तक हो सके सकाम-ध्यान का ध्येय केवल होना चाहिये। साधारण मनुष्य सकाम-ध्यान का उपयोग तो करते

हैं, किन्तु उनका ध्येय केवल होने की अपेक्षा बड़ा विस्तृत होता है। वे कभी एक विषय की ओर अधिक समय तक ध्यान नहीं लगा सकते। उनका मन एक विचार से दूसरे विचार की ओर वेग से दौड़ा करता है। इसी कारण वे किसी विषय के गम्भीर ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं।

इस लेख में हमारा तात्पर्य ध्यान-शब्द से सकाम-ध्यान का है। दूसरे प्रकार के ध्यान के लिए निष्काम शब्द का प्रयोग किया जायगा। पाठक-गण इस बात को स्मरण रखें।

सकाम-ध्यान की विशेषता यह है कि इसमें शक्ति का व्यय अधिक होता है। निष्काम-ध्यान में मन घण्टों तक कार्य कर सकता है, पर सकाम-ध्यान में एक घंटा भी कार्य करना कठिन है। ध्येय जितना केवल होगा, शक्ति का व्यय उतना ही अधिक होगा। इस क्षति की पूर्त्ति के तीन उपाय हैं:-
(१) विध्येय, (२) उद्भावक, (३) निद्रा।

विध्येय—सध्येय ध्यान में शक्ति का व्यय अधिक होते रहने से थकावट का अनुभव होने लगता है और जी ऊब उठता है। इस क्षति की पूर्त्ति का उत्तम उपाय यह है कि मन को उस ध्येय से हटाकर उसे स्वच्छन्दता-पूर्वक विचरने देना चाहिए। इस समय किसी विशेष विषय में मन की धारणा नहीं होनी चाहिये; जहाँ मन जाना चाहे, जिस विषय का विचार करना चाहे, उसे करने देना चाहिए। इस प्रकार करने से थोड़ी ही देर में थकावट दूर हो जायगी।

उद्भावक—इसमें मन रुचिकर पदार्थों की ओर लगाया जाता है। क्षति को दूर करने के निमित्त सदा सुखद उद्भावकों का ही उपयोग करना चाहिए। समय २ पर उद्भावक बदलते रहना चाहिए; क्योंकि एक उद्भावक का अधिक देर तक उपयोग करने से उसकी शक्ति नष्ट होने लगती है। प्रिय जनों के साथ वार्त्तालाप, सुन्दर वस्तुओं का अवलोकन, खुली हवा में टहलना, इत्यादि सभी इसी प्रकार में सम्मिलित हैं।

निद्रा—क्षति की पूर्त्ति का यह सब से श्रेष्ठ उपाय है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए अन्य साधन इतनी सरलतासे सब को प्राप्तव्य नहीं है। निद्रा के विषय में सभी जानते हैं, अतःअधिक लिखना यहाँ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

विचार सम्बन्धी समस्त कार्य खुली हवा में ही करने चाहिए। यदि किसी कमरे में विचार करने का अवसर प्राप्त हो तो उसमें विपुल वायु के आने जाने के लिए मार्ग खुले रहना चाहिए, ताकि वरुण वायु (ओषजन, Oxygen) पर्याप्त मात्रा में मिलती रहे।

संभवतः पाठकों का यह प्रश्न हो सकता है कि ध्यान में मन की क्या अवस्था रहती है। क्या वह चंचलता को छोड़कर जड़ बन जाता है? इसका उत्तर यह है कि ध्येय के दो प्रकार हैं:—(१) विषय, और (२) विचार। पहले में मन एक ही विषय के अनेक विचार करता रहता है, पर दूसरे में

उसे एक सीमित समय तक एक ही कल्पना को धारण करना पड़ता है। दूसरे की अपेक्षा पहला सरल है और विज्ञान में इसी प्रकार के ध्यान की विशेष आवश्यकता भी है। दूसरे प्रकार का ध्यान अति कठिन है। इसका उपयोग योग में अधिक होता है, इस कारण इसका वर्णन तद्विषयक पुस्तकों में ही पढ़ना अच्छा है।

ध्यान में मनन् सम्बन्धी समस्त मानसिक शक्तियाँ अपना-अपना कार्य्य करते हुए ध्येय की सफलता में यत्न करती रहती हैं। मन स्वभाव से बड़ा चंचल है। प्रारंभ में किसी विषय का लगातार चिंतन करना बड़ा कठिन है। वह एक क्षण में एक विषय का विचार करता है और दूसरे क्षण में दूसरे विषय का। इस कारण विचार करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मन किसी अन्य विषय की ओर न जाने पाय। पहले-पहल एक ही विषय में प्रवृत्त होना असम्भव-सा प्रतीत होता है किन्तु जब अभ्यास करते २ वृत्ति बनने लग जाती है तब मन स्वयं अपने ध्येय को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता।

मन की उपमा उस कैमरे से दी जाती है जो एक उद्योगी सड़क की तसवीर उतारने निमित्त लगाया जाता है। फोटो उतारने के लिए वस्तु का कुछ समय के लिए एक स्थिति में होना आवश्यक है। परन्तु सड़क का प्रत्येक व्यक्ति गति-शील है। ज्यों-ही कैमरा एक व्यक्ति के लिए लगाया जाता है, त्यों-

ही वह व्यक्ति अपने स्थान से हट जाता है, और उसका प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप के प्लेट पर नहीं गिरने पात। यही हाल मानस-पटल का है। एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी कामना के आने-जाने का क्रम जारी रहता है। फोटो के सदृश यहाँ भी सोचने-समझने के लिए यह आवश्यक है कि एक कामना किसी नियत समय तक उक्त पटल पर स्थित रहे। यह कार्य ध्यान का है।

हम एक समय में एक पदार्थ को नहीं देखते। जब देखते हैं तब पदार्थों के समूह को ही देखते है। आप पुस्तक पढ़ रहे हैं, उसके एक अक्षर की ओर आप देख रहे हैं पर आस-पास के अन्य अक्षर स्वयमेव ही दिखाई देते हैं। यही हाल अन्य इंद्रियों और मन का भी है। चेतना में कभी-भी अकेली कामना नहीं आती। सदा एक से अधिक कामनाएँ ही प्रकट होती हैं। ध्यान एक ही कामना की ओर लगता है, अतः अन्य कामनाएँ अस्पष्ट रहती हैं और अवसर पाकर उसे अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। कामना के पूर्ण प्रभाव के लिये उसकी स्पष्टता और स्थिरता आवश्यक है। यह कार्य भी ध्यान से ही साध्य है।

संसार की प्रत्येक वस्तु ज्ञान-गम्य हो सकती है यदि उसकी ओर पर्य्याप्त ध्यान दिया जाय। इसकी उपमा उस काँच से दी जा सकती है जो बिखरी हुई सूर्य की किरणों को

एकत्र करके पदार्थों को भस्मीभूत कर देता है। यदि मानसिक शक्तियों को ध्यान द्वारा एकत्रित कर किसी विषय की ओर लगाया जाय तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उस पदार्थ का हमें सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है। वैज्ञानिक ध्यान द्वारा अपनी मानसिक शक्तियों को प्रयोग की ओर लगाता है और उसके फल स्वरूप में वह एक ऐसा आविष्कार कर देता है जिससे सारा संसार मुग्ध हो जाता है। ज्योतिषी ध्यान द्वारा ही नक्षत्रों और ग्रहों का रहस्योद्‌घाटन करता है। तात्पर्य यह कि उन्नति के सभी कार्य्यों में ध्यान आवश्यक है।

प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्ति के जीवन का पर्यालोचन करने से इस सिद्धान्त की ओर भी पुष्टि हो जाती है। जिन्होंने प्रसिद्ध विज्ञानी न्यूटन का जीवन-चरित्र पढ़ा है उन्हें ज्ञात होगा कि वे कभी-कभी अपने विचारों में इतने निमग्न हो जाते थे कि उन्हें स्नान और भोजन करने की सुध भी न होती थी। एक समय उनके बन्धु डा. स्टवले उनकी प्रयोगशाला में उनसे मिलने गये। उन्होंने देखा कि न्यूटन अपने विचारों में अत्यन्त व्यस्त है; वे चुपके से उनके पास जाकर बैठ गए। सामने एक मेज पर न्यूटन के के लिये कुछ खाने की वस्तुएँ रखी थीं। डाक्टर उन्हें धीरे-धीरे सब खागये और उनके स्थान पर मुर्गी की हड्डियाँ रख कर प्लेट को वैसी ही ढाँक दी। कुछ देर के पश्चात् न्यूटन ने प्लेट का कपड़ा उठाया और अस्थियाँ देखकर चकित हो गये! वे अपने भाई से विस्मित होकर बोले:- "एँ, मैंने सोचा था कि

मैंने अभी खाना नहीं खाया है पर मुझे ज्ञात होता है कि मैं खा चुका हूँ।" निस्सन्देह इसी प्रकार की एकाग्रता के कारण न्यूटन अपना नाम संसार में अमर कर गये हैं।

साधारणतः ध्यान रुचिकर पदार्थों में ही लगता है। बालक और साधारण कोटि की जनता ऐसे ही ध्यान का उपयोग करते हैं। किन्तु वास्तविक ध्यान वह है जो अरुचिकर पदार्थ से और आपत्ति के समय में भी विचलित न हो। अधिकाँश लोग उद्देश्य की सफलता के लिये रुचि का बलिदान नहीं करते। वे पशुओं के सदृश प्रलोभनों से ऐसे बँधे हुए होते हैं, मानो स्वतंत्र रूप से कार्य करने की शक्ति का उनमें अत्यन्त अभाव है। साफल्य ऐसे व्यक्तियों के लिए असम्भव है।

ध्यान लगाने के दो उपाय हैं-(१) अभ्यास और (२) वैराग्य। इसे सिद्ध करने के अन्य साधन जो कई पुस्तकों में मिलते हैं, वे सब इन्हीं के विस्तृत रूप हैं। भिन्न २ शास्त्रकारों ने भी ये ही दो साधन मुख्य बतलाये है। यथा:-

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। यो. द. १-१२
वैराग्यादभ्यासाच्च। सां. द. ३-३६
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
गीता ६-३५

अर्थात् हे महाबाहो ? मन अत्यंत चंचल है, उसे रोकना अति कठिन है इसमें सन्देह नहीं। पर हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह रोका जा सकता है।

अभ्यास-अपने उद्देश्य की सफलता के लिए बार-बार प्रयत्न करना।

वैराग्य-जो बात अपने उद्देश्य से भिन्न है, जिसका अपने ध्येय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, उसे मन, वचन, और कर्म से छोड़ना। यजुर्वेद में ऐसी बातों को दो विभागों में विभक्त किया है—एक अनृत और दूसरा असत्य। *

अनृत-अप्रेरक, दूसरा। हमने एक कार्य प्रारम्भ किया। जब त्याग की आवश्यकता पड़ी तो उसे छोड़कर दूसरे कार्य को प्रारम्भ कर दिया। यदि पुनः कठिनाई हुई तो तीसरा कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार अपने ध्येय से भिन्न और असम्बंधित कार्यों की अनृत संज्ञा होती है।

असत्य-जो सत्य अर्थात् अपने ध्येय से विपरीत है। असत्य कार्य ध्येय से विपरीत होते और कर्त्ता का अधःपतन करते हैं; किन्तु अनृत कार्य ध्येय से केवल भिन्न ही होते हैं। यही इन दोनों में भेद है। इस कारण सच्छात्रों में सदा

* इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि-यजु १-५। इसकी व्याख्या के लिए देखिए-वै० ध० क्रमांक ८१

सत्य कर्म करने की प्रेरणा की गई है। पतञ्जलि मुनि लिखते हैं:--"सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्" अर्थात् सत्य से ही क्रिया और फल का आश्रय होता है।

जैसे असत्य और अनृत कार्य त्याज्य हैं, जैसे-ही असत्य कल्पनाएँ भी त्यागने योग्य हैं। जो व्यक्ति असत्य कर्मों को न करता हुआ भी उनका चिंतन करता है वह मूर्ख है। इस कारण जो सफलता के इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि वे अपने ध्येय से भिन्न कार्यों को न करते हुए सफलता प्राप्त होने तक उन कार्यों के चिंतन का भी त्याग करें।

पाँचवाँ अध्याय

क्रियात्मक ध्यान

पूर्व अध्याय में ध्यान और उसके साधारण नियमों का वर्णन किया गया है। उसे सरलता से सिद्ध करने के लिये उपाय भी बताये गये। इस अध्याय में हमें ध्यान सम्बन्धी कुछ विशेष बातों का अध्ययन करना है। विज्ञान में मुख्यतः तीन बातों की ओर ध्यान की आवश्यकता होती है–१ इन्द्रिय, २ पठन, ३ मनन्। ये तीनों ध्यान से ही साध्य हैं, अतः इनका क्रमशः विचार किया जाता है।

इन्द्रिय

यह एक निर्विवाद बात है कि इन्द्रियों की शक्ति ध्यान द्वारा बढ़ सकती है। इन्द्रियानुभव के लिये दो बातों की ओर लक्ष्य रखना चाहिये–(१) सूक्ष्म ज्ञान, और (२) भेद ज्ञान। हमें इस बात का विश्वास रखना चाहिये कि एक पदार्थ के विषय में साधारण जन जितना जानते हैं उससे कहीं अधिक उस पदार्थ के संबन्ध में जाना जा सकता है। वे लोग सूक्ष्म बातों की ओर ध्यान नहीं देते। इस कारण प्रत्येक पदार्थ की ओर ध्यान लगाकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

संसार में कोई दो पदार्थ एक जैसे नहीं होते। एक राशि के दो पदार्थ भी कुछ अंक्ष में एक दूसरे से भिन्न होते

हैं। इसी भिन्नता के कारण प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व बनाये रखती है। हमें बालों में कोई भेद दृष्टि-गोचर नहीं होता। हम समझते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के बाल समान ही होते हैं, उनमें किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं। पर यह बात ग़लत है। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक मनुष्य के बालों में भेद होता है। बाल भीतर से पोले होते हैं, जिनमें एक प्रकार का बूरा भरा होता है। यही हमें काला २ दिखाई देता है। इसी भिन्नता से अब अभियुक्तों की पहचान की जाती है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के प्रथम हमें इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि इन्द्रियानुभव के लिए ध्यान अपेक्षित है। जिस पदार्थ की ओर जितना ध्यान होगा उतना ही अनुभव उसके संबंध में होगा। पदार्थ के गुणों के अतिरिक्त यह भी जानना चाहिये कि अन्य वस्तुओं के साथ उसकी किन-किन गुणों में समानता है और किन २ गुणों में वह अन्य वस्तुओं से भिन्न है।

पठन

हम सैकड़ों पुस्तकें पढ़ते हैं। प्रतिदिन गद्य-पद्य के असंख्य पृष्ठ पढ़ डालते हैं। जोर-जोर से और बड़ी तेजी से पढ़ते हैं, पर आगे पढ़ते जाते हैं और पीछे सब भूलते जाते हैं।

हे भाई! "पढ़ना एक कला है और तुम्हारा सच्चा मित्र है। इसी के द्वारा ज्ञान-सम्पादन होता और मस्तिष्क की शक्ति

बढ़ती है। अतः सब से प्रथम उसके महत्व को समझो और पुनः उसका उपयोग करो।"

यह प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य या तो अत्यधिक पढ़ता है या बहुत कम। पहला हानिकारक और दूसरा लाभ से वंचित रखने वाला है। आधुनिक काल में पुस्तकों और समाचार पत्रों का बाहुल्य प्रतिदिन बढ़ रहा है। यह बहुलता अन्तर्बोध का विघात करती है। सहस्रों व्यक्ति पढ़ते हैं पर यह पढ़ना केवल समय को व्यतीत करने और अपनी उदासीनता को दूर करने के लिए होता है। साहित्य की इस अपरिमित बाढ़ ने हमें वास्तविक अध्ययन से छुड़ा दिया है। प्रकाशक-गण अपनी पुस्तकों का बाह्य स्वरूप इतना चित्ताकर्षक और नाम इतने भव्य रखते हैं कि पढ़नेवाले की यही इच्छा होती रहती है कि मैं वर्तमान पुस्तक को कब समाप्त कर दूसरी पुस्तक को पढ़ूँ। पाठ्य पुस्तक को समाप्त करने की इच्छा और इतर पुस्तकों को पढ़ने की जिज्ञासा से कभी २ तो पाठक इतने कायल हो जाते हैं कि कई बार पुस्तकें या तो इतनी तेजी से पढ़ी जाती हैं कि 'आप पढ़े और खुदा समझे' वाली कहावत चरितार्थ होती है या कभी २ पृष्ठ के पृष्ठ यों-ही उलट दिये जाते हैं।

प्राचीन युग में पुस्तकों का बाहुल्य न था—वहाँ पुस्तकों के पृष्ठों को निरे देखनेवालों की आवश्यकता न थी—वहाँ ग्रन्थ-कीटों का समुदाय न था। उस समय सारगर्भित और मौलिक

पुस्तकें लिखी जाती थीं, परन्तु आज उसका बिलकुल विपर्य्यय हो रहा है। अधिकांश लेखक द्रव्य और यश के मद में इतने अन्धे हो गये हैं कि उन्हें किसी विषय के मनन् की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। उनकी कृति में शब्दों का बाहुल्य और भावों की न्यूनता प्रधान गुण पाया जाता है। कोई २ तो अपने लेख का कलेवर अनर्गल बातों से इतना भर देते हैं कि उसे पढ़ते २ जी ऊब जाता है और कोई लाभ भी नहीं होता।

भाइयो! देश के नवयुवको!! पढ़ना एक कला है। अन्य कलाओं के साथ २ हम इसे भी खो चुके हैं। इसका पुनरुद्धार अत्यावश्यक है। इसके बिना संसार के विद्वत्-समाज में हम जी न सकेंगे। इसी कारण वेद ने एक स्थान पर कहा है "जो कुछ भी पढ़ो या सुनो, उसका मनन् करो—उससे जुड़ जाओ; ध्यान रखो? वह पढ़ा हुआ तुम से अलग न हो जाय।"

अब इसके आगे का विचार मैं पाठकों पर ही छोड़ देता हूँ, वे स्वयं इस बात का विचार करें। जो मुझ से सहमत नहीं हैं उनके लिए तो कुछ कहना ही नहीं है किन्तु जो पाठ्य-प्रणाली में सुधार की आवश्यकता का अनुभव करते हैं उनके लिए कतिपय नियमों का दिग्दर्शन कराया जाता है। आशा है, जिज्ञासू-गण उनसे कुछ लाभ उठायँगे।

१. प्रत्येक पुस्तक को मत पढ़ो। सदा ऐसे ग्रन्थकारों की कृतियों का ही अध्ययन करो जिनकी वर्णन शैली सरल

और सारगर्भित हो; जो अपने विषय के प्रगाढ़-विद्वान् और निष्पक्षपात लेखक हों। जिस पुस्तक में यत्किंचित बात के लिए भी पृष्ठ के पृष्ठ रंग डाले गये हों, वह पढ़ने योग्य नहीं। इससे समय की हानि विशेष और लाभ अतिन्यून होता है।

२. प्रथम, पुस्तक के नाम का विचार करो। कल्पना कीजिए, आप एक पुस्तक पढ़ना चाहते हैं, जिसका नाम है 'मनोविज्ञान'। अतः पहले 'मन और विज्ञान' इन दोनों शब्दों के ठीक २ अर्थ और भाव को जानने का यत्न करो। इसके उपरान्त भूमिका पढ़ो। कई लोग इसे नहीं पढ़ते किन्तु कभी २ इसके (पढ़े) बिना लेखक के भावों को समझना कठिन हो जाता है। भूमिका पढ़ते समय इस बात का ध्यान रखो कि जो बातें लेखक ने लिखीं हैं वे वास्तव में उसमें लिखी जाने योग्य थीं या नहीं। क्या इन बातों के लिखे बिना उसका उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता था ? इससे आपको लेखक की न केवल योग्यता का ही परिचय प्राप्त होगा परन्तु पुस्तक की बहुतसी बातें भी ज्ञात हो जायँगी, जो उसके समझने के लिए आवश्यक होती हैं।

३. जिस विषय की पुस्तक हमें पढ़ना है यदि वह हमारे लिए बिलकुल ही नया है तब तो प्रारंभिक और छोटी पुस्तकें ही पढ़ना योग्य है, पर यदि उस विषय में हमारी गति हो गई है तो सारगर्भित और उच्च कोटी की ही पुस्तकें पढ़ना चाहिए।

४. विषय सूचि को पढ़ कर पुस्तक के प्रारंभिक २५ पृष्ठ पढ़ो। इतनी बातें पुस्तक का साधारण परिचय प्राप्त करने के

लिए पर्य्याप्त हैं। यदि इतने पर भी आपको उसमें कुछ उपयोगिता दृष्टिगोचर न हो तो यह निश्चित है कि वह आपके योग्य नहीं है। इसके दो कारण होते हैं। एक तो यह कि आप वर्णित विषय को अधिक जानते हैं और वह पुस्तक आपके ज्ञान की वृद्धि करने में असमर्थ है। दूसरा कारण यह है कि आपका ज्ञान उस पुस्तक को समझने के लिए पर्य्याप्त नहीं है। किसी पुस्तक को समझना पढ़नेवाले की योग्यता पर भी अवलंबित है। प्रतिभाशाली लेखकों की कृतियाँ साधारणतः समझ में नहीं आतीं।

५. प्रत्येक पुस्तक को पढ़ते समय अपने पास कोष अवश्य रखो। बिना कोष के कभी मत पढ़ो। एक मास तक एक बार भोजन करो परन्तु कोष अवश्य खरीदो। इसका महत्त्व विशेष है। इसके अभाव में शब्दों का अर्थ लगाते समय कल्पना कभी-कभी बड़ा अनर्थ करती है। इसके उपयोग से भाषा का सुधार, शब्द-भण्डार की विस्तृतता और शब्दों का यथावत् प्रयोग होता है।

६. पुस्तक को प्रारम्भ से पढ़ो। कई लोग इतने उत्सुक होते हैं कि वे बीच में से पढ़ना शुरू कर देते हैं। इससे पढ़ने वाला लेखक के क्रमबद्ध विचार से परिचित नहीं हो पाता।

७-प्रत्येक वाक्य को बिना समझे आगे मत बढ़ो। १०० पुस्तकों की अपेक्षा ध्यान-पूर्वक एक ही पुस्तक पढ़ना अच्छा

है। लेखक के भावों को समझकर उसे अपने शब्दों में प्रकट करने का यत्न करना चाहिए। औरों के वाक्यों को रटना अच्छा नहीं। वही मनुष्य किसी विषय को अच्छा जानता है जो तत्सम्बन्धित भावों को अपनी भाषा में व्यक्त कर सकता है।

८—लेखक के किसी भी सिद्धान्त से बिना विचारे कभी सहमत मत हो। उसके सत्यासत्य होने का विचार करो। उन विचारों के साथ अन्य विद्वानों के विचारों की तुलना करो। बिना पर्य्याप्त प्रमाणों के कभी किसी निर्णय पर मत पहुँचो। यह कार्य हठ या पक्षपात को छोड़कर किया जाना चाहिये।

९—पुस्तक पढ़ने का मुख्य उद्देश्य यह है कि पाठक उसके लेखक के ज्ञान-गाम्भीर्य से परिचित होकर अपनी उन्नति आप कर सके। यावत् यह सिद्धान्त व्यवहृत न होगा तावत् पढ़ने का उद्देश्य कभी सफल नहीं हो सकता।

१०—प्रत्येक विषय का तुलनात्मक अध्ययन अच्छा होता है। एक ही पुस्तक को पढ़कर किसी निर्णय पर पहुँच जाना इतना लाभदायी नहीं होता जितना उस विषय की भिन्न २ पुस्तकों को पढ़ने से होता है।

११—मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह अपने मनोगत भावों को औरों के सम्मुख व्यक्त करे। अपने हृद्गत भावों को छिपाने के लिये कोई भी समर्थ नहीं। इस नियमानुसार अपने विषय के विद्वानों से वार्त्तालाप करना चाहिए। इससे विचार परिष्कृत होकर प्रौढ़ होते हैं।

मनन्

मनन् मन का समुन्नत कार्य है। 'मननात् मनुष्यः' अर्थात् मनन् से ही मनुष्य बनता है। यह पठन पर निर्भर है। जिस व्यक्ति का पाठ्य-क्रम बिगड़ा हुआ होता है, वह कभी मनन् अच्छी प्रकार नहीं कर सकता।

प्राचीन-काल में न पुस्तक-भण्डार इतना विशाल था और न लेक्चरबाजी का इतना प्रकोप था। लोग इतना ही पढ़ते और उपदेश श्रवण करते थे जितना वे भली प्रकार पचा सकते थे। आज हम पुस्तक-भक्त बन रहे हैं। हमारी मनन् शक्ति लुप्त-सी होगई है। साधारण से साधारण विषय भी हमारे लिए बड़े गूढ़ हो गये हैं। हमने स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार करने की शक्ति बिलकुल खो दी है। यहाँ तक कि छोटी-से-छोटी बातों के लिये भी हमें औरों का ही मुँह ताकना पड़ता है।

जैसे शारीरिक जीवन के लिये यह आवश्यक है कि भोजन आमाशय की क्रिया द्वारा पचाया जाय, वैसे ही मानसिक जीवन के लिये पुस्तकों द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान मनन् द्वारा पचाना चाहिये। मनन्-शक्ति हम सब में विद्यमान है पर उपयोग न होने से उसका ह्रास हो रहा है। हमें इस से बचना चाहिये। विषयों की भिन्नता के कारण सबके लिये एक ही उपाय नहीं बताया जा सकता। तथापि कुछ साधारण

नियम दिए जाते हैं, जो सब को समान रूप से उपयोगी होंगे:—

(१) विचार के लिये कोई विषय निश्चित् कीजिए। अपनी सब मानसिक शक्तियों को अन्य ओर से हटाकर उस विषय की ओर लगाइये। पहले उसके नाम का अर्थ समझिये। तदनन्तर उसके कारण, कार्य, नियम और अन्य विषयों से सम्बन्ध का परिचय प्राप्त कीजिये।

कल्पना कीजिये कि आप 'जल' पर विचार करना चाहते हैं। सब-से प्रथम यह सोचिए कि जल शब्द का अर्थ क्या है:—

(क) जल=ज+ल

ज=जन्म, उत्पत्ति.

ल=लय, नाश, मृत्यु.

∴ जल–वह वस्तु जो प्राणियों को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उपयोगी होती है।

(ख) कारण–वरुण+मित्र वायु।

(ग) कार्य–जल से वाष्प और हिम बनते हैं, मल की निवृत्ति होकर शरीर शुद्ध और नीरोग होता, प्राणियों का जीवन होता, और वस्तुओं का संयोग-विभाग होता है।

(घ) प्रकार–औद्भिद, पार्थीव आदि ।

(ङ) गुण–पारदर्शक, द्रव, शीतल; मूर्च्छा, निद्रा, वमन आदि को दूर करने वाला ।

(च) पर्य्याय–रज, आप, जन्म, घहण, शुभ, अमृत, आदि ।

(छ) नियम–भिन्न २ वस्तुओं के साथ मिलकर वह क्या २ परिणाम उत्पन्न करता है । जैसे, शकर को वह अपने में घुला लेता है, पत्थर को नहीं; लकड़ी आदि वस्तुओं को सड़ाता है, इत्यादि । अर्थात् भिन्न २ वस्तुओं के साथ मिलकर वह क्या २ परिणाम उत्पन्न करता है, इन्हें देख कर उसके नियम निश्चित करना चाहिये ।

विचार करने के कई भेद हैं, पर इन्हें हम तीन भागों में विभक्त करते हैं–क्या, क्यों और कैसे । क्या से उसके स्वरूप का, क्यों से उसके कारणादि का, और कैसे से नियम और सम्बन्ध आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

न केवल विषय-भेद से विचार शैली में परिवर्तन होता है किन्तु भिन्न २ मनुष्यों की विचार पद्धति भी पृथक् २ होती है । कोई भी दो मनुष्य एक जैसे विचार नहीं करते । विचार का उद्देश्य यही है कि उस विषय में हमारा प्रवेश हो । अभ्यास

से विचारों में परिपक्वता और शैली में सुधार होता जाता है। विचार करते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि हमारा ध्यान विषय से विषयान्तर की ओर न जाय।

(नि० २) विचार करते समय एक ध्येय को निश्चित कर उसे कई भागों में विभक्त कर देना चाहिये। एक २ विभाग का क्रम-पूर्वक विचार करना चाहिये। प्रत्येक विषय में अन्य विद्वानों का क्या मत है इसका भी विचार करना चाहिये। विचार करते समय भाषा और शैली विचारक की अपनी हो। इस कार्य्य के लिये निर्भीकता और एकान्त स्थान आवश्यक है। छोटी से छोटी बातों पर भी विचार करो पर श्रंखला को न छोड़ो। गलती से कभी मत डरो पर ज्ञात हो जाने पर उसे बिना सुधारे कभी आगे मत बढ़ो।

उच्च प्रकार के मनन् बड़े मँहगे होते हैं। उनकी प्राप्ति एक-दो दिन में साध्य नहीं। कई वर्षों का सतत् परिश्रम आवश्यक है, तभी सफलता मिल सकती है। साधारण पुरुष मनन् तो क्या वह किसी नियत समय तक एक विषय में अपना मन ही नहीं लगा सकता। परन्तु इस पर निराश होने की कोई बात नहीं है। संसार की सभी दिव्य विभूतियाँ एक समय विज्ञान के उसी तट पर खड़ी हुई थीं जिस पर आज आप हैं। जो शक्तियाँ उन्हें प्राप्त थीं वे सब आप के पास विद्यमान हैं। उनके विकसित होने के लिये आपके ध्यान को उस ओर प्रवाहित करने की देर है।

(३) कभी २ विचारक विचार करते समय ऐसे-ऐसे कठिन और परिभाषिक शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं, जिन्हें वे स्वयं ही नहीं समझते। यही दोष उनकी वार्त्तालाप में भी पाया जाता है। वे समझते हैं कि इस प्रकार के अभ्यास से वे विद्वत्-समाज में प्रतिष्ठा के पात्र बन सकेंगे, किन्तु यह उनकी निरी भूल है। ऐसा करने से शब्दों के दुष्ट प्रयोग होते और आडम्बर फैलता है। उनके वाक्यों को न वे स्वयं ही समझते, और न श्रोतागण ही उनके भावों को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। अतः विचार या वार्त्तालाप का उद्देश्य ही सफल नहीं हो पाता। आपको इससे बचना चाहिये।

(४) सत्य के उपासक बनो। सत्य किसी विशेष व्यक्ति या समुदाय का नहीं—उस पर सब का समान अधिकार है। अपने सिद्धांतों की आलोचना करो। यदि कोई उनके दोष दिखाता है तो उसे सहर्ष सुनो, उस पर क्रोध कभी मत करो। स्वयं इस बात को सोचो कि हमारे मन्तव्य अन्ध श्रद्धा या किसी भय के कारण तो निश्चित् नहीं किये गये हैं। किसी भी बात को यों-ही मत मानलो क्योंकि वह किसी प्रसिद्ध व्यक्ति द्वारा कही गयी है, उसके सत्य होने की जाँच स्वयं करो।

(५) विचार में समय का भी ध्यान रखो। विजय शीघ्र विचारकों के लिए है। यों-तो प्रायः सभी मनुष्य न्यूनाधिक विचार करते हैं लेकिन कइयों को सफलता इसी कारण नहीं

मिलती कि उनका विचार उचित समय में पूर्ण नहीं हो पाता। समय के व्यतीत हो जाने पर उत्तम विचार भी अनुपयोगी ही होता है। इस कारण विचार करते समय किसी निर्णय पर शीघ्र पहुँचने का यत्न करो। अपितु इस शीघ्रता का यह अर्थ नहीं है कि कोई मनुष्य विचार में आवश्यक बातों को भी छोड़ दे। प्रायः कई लोग ऐसे देखे गये हैं जिनका विचार कभी समाप्त ही नहीं होता। वे सदा विचार ही किया करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को चाहिए कि वे किसी निर्णय पर पहुँचने का यत्न करें। निरे विचारों से कोई हेतु सिद्ध नहीं होता। विचार, विचार के लिए नहीं किन्तु अपने ध्येय की सफलता के अर्थ किए जाते हैं। इस कारण विचार न इतने दीर्घ होने चाहिये कि कभी कोई निर्णय ही न हो और न इतने न्यून हो कि आवश्यक बातें भी छूट जायँ।

छटा अध्याय

अभ्यास

पिछले अध्यायों में इन्द्रिय और ध्यान की व्याख्या की गई है। इनकी शक्तियों को उन्नत करने के लिए अभ्यास आवश्यक बतलाया गया था; क्योंकि अभ्यास के बिना इनका विकास कभी सम्भव नहीं होता। अतः इस अध्याय में हमें अभ्यास पर कुछ विचार करना है।

किसी भी सकाम कर्म का बार-बार किया जाना अभ्यास है। प्रत्येक कर्म का मन पर जो परिणाम होता है उसे संस्कार कहते हैं। यह संस्कार चित्त में स्थित होकर अन्य अनुकूल संस्कारों से पुष्ट होता है। प्रत्येक संस्कार आगे होने वाले अनुकूल संस्कार और कर्म के लिए मार्ग सुगम कर उन्हें आवश्यक सहायता देता है।

अभ्यास का यह नियम चर और अचर दोनों संसारों में अपरिवर्त्तनीय है। नया पदत्राण पहिनने में पैरों को अत्यंत कष्ट-दायक होता है, यहाँ-तक कि कभी २ वह घाव भी कर देता है। परन्तु अभ्यास से उसकी यह निर्दयता छूटकर रक्षण के रूप में परिवर्तित हो जाती है। नूतन यन्त्र इतनी शीघ्रता से कार्य नहीं करता जितना उपयोग किया हुआ यन्त्र कर सकता है। जिन्होंने किसी भी यन्त्र का उपयोग किया होगा वे इस बात को भली-भाँति जान सकते हैं। सूखी भूमि पर ढोला हुआ

जल न इतनी जल्दी प्रवाहित होता है और न एक मार्ग से बहता है, बनिस्बत् उस जल के कि जिसके लिए मार्ग पहले-से ही पानी डालकर निर्दिष्ट किया जा चुका है।

जैसे जड़ जगत् में अभ्यास का नियम पाया जाता है वैसे-ही चेतन जगत् में भी यह नियम व्याप्त है। बालक प्रथम चोरी करना सीखता है। पहले-पहल उसे इस कार्य में बड़ी कठिनताई का अनुभव होता है।वह भयभीत होकर बड़ी देर में कोई छोटी-मोटी चोरी कर पाता है। पर बार २ अभ्यास से उसकी यह कमजोरी हटती जाती है और एक दिन वह साहसी डाकू बन जाता है। अभ्यास के महत्त्व प्रदर्शक सहस्रों उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु उनकी आवश्यकता यहाँ प्रतीत नहीं होती। अब तो साधारण से साधारण मनुष्य भी अभ्यास के महत्व से परिचित जान पड़ता है, अतः इसका वर्णन कर हम आपका समय व्यर्थ लेना नहीं चाहते। आप आगे चलकर 'प्रत्यवेक्षण' के वर्णन में इसकी विशेषताओं से विशेष अभिज्ञ होंगे। यहाँ कुछ अन्य आवश्यक बातों की चर्चा की जायगी।

कतिपय लोग अभ्यासार्जित स्वभाव को अपरिवर्त्तनीय मानते हैं। उनका मत है कि अभ्यास द्वारा जो आदत एक-बार पड़ चुकी है वह छोड़े न छूटेगी। किन्तु हमें यह बात ठीक नहीं जँचती। ये लोग जितने विरुद्ध हैं उतने ही हम उस सिद्धान्त के पोषक हैं। हमारा अटल विश्वास है कि प्रत्येक

मनुष्य अपनी पुरानी आदतों से मुक्ति पा सकता है, यदि वह दृढ़ेच्छा से सतत् परिश्रम करे।

जो लोग ऐसा करना चाहते हैं उन्हें नया अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए और साथ ही साथ पुराने अभ्यासों को उत्तेजित करने हारी सभी बातों को छोड़ देनी चाहिए। कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति शराब छोड़ना चाहता है। ऐसी अवस्था में शराब को न पीने से ही काम न चलेगा प्रत्युत उसे उन सब बातों को दूर करना चाहिए जो मदिरा-पान की इच्छा को उत्तेजित करती हैं। उसकी बड़ी भूल है यदि वह पहले की नाईं अब भी खाली ग्लास को हाथ में लेकर सुरा के स्वाद और आनन्द का चिन्तन करता है या कलाली में जाकर बैठता है या तत्सम्बान्धित विज्ञापन तथा पुस्तकें पढ़ता है। यदि वह ऐसा करेगा तो उसे सफलता कभी भी प्राप्त न होगी। इसका कारण बतलाते हुए वेद ने एक स्थान पर कहा है*– "हे कामना! साफल्य के अर्थ तू सब से प्रथम अपने सपत्नों का नाशकर।" यहाँ अलङ्कार रूप से कामना को मन की पत्नी माना है। इस कारण एक कामना दूसरे की सपत्न हुई। संसार में सौतिया डाह प्रसिद्ध है। प्रत्येक पत्नी अपनी सौत से द्वेष करती, और उसे हेय समझकर उसकी शक्ति को कुचलने का यत्न करती है। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी प्रत्येक कामना सौतिया डाह से सनी हुई रहने के कारण दूसरी कामना को

---

* 'जहित्वं काम मम ये सपत्नाः'। अथर्व.९-२-१०

नीरस और निर्वीर्य्य बनाती है। जिस कल्पना की ओर ध्यान जाता है वह बलवती बन जाती है और अन्य कामनाएँ प्रभाव रहित हो जाती हैं। अतएव हमें जिसका अभ्यासोपार्जन करना है उसी ओर ही ध्यान देना चाहिए और इतर उद्भावकों से मुँह मोड़ लेना चाहिए। भगवान् पतञ्जलि ने भी इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए लिखा है *- " विक्षेपों और उनके साथियों के निवारणार्थ चित्त को एक तत्त्व का ही अभ्यास करना चाहिए।" दार्शनिकों ने इसी भाव को वैराग्य शब्द से अभिहित किया है।

ध्येय से असम्बन्धित बातों का मनन् करना एक दोष है। अंग्रेजी के लेखकों में यह दोष दृष्टिगोचर नहीं होता पर मध्य-कालीन कुछ सम्कृत की कृतियाँ इस दोष से भरी हुई हैं। उदाहरण के लिए योग वासिष्ठ ही को लीजिए। यह अद्वैतवाद का एक वृहत् ग्रन्थ है। इसके वैराग्य प्रकरण में जहाँ ब्रह्मचर्य्य और उसके लाभ की विशद व्याख्या होनी चाहिए थी वहाँ स्त्रियों के भिन्न २ अवयवों की विस्तृत व्याख्या शृङ्गार में की गई है। उसमें स्त्रियों के जो दोष बतलाए हैं वे तो पुरूषों में भी पाए जाते हैं। ऐसे स्थानों पर वीर्य रक्षा की उपयोगिता का दिग्दर्शन होना चाहिए था लेकिन ग्रन्थ भर में इसका कहीं जिक्र तक नहीं किया गया है। हमारा प्रयोजन यहाँ यह बात लिखने का यह है कि जिस बात को हम अपनाना चाहते हैं उसके गुणों का ही मनन किया जाना चाहिए, न कि उसकी विपरीत बातों के दोषों के विचार में ही सारा जीवन व्यतीत किया

* 'तत्प्रतिपक्षार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। यो. द. १.३२.

जाय। ब्रह्मचर्य्य के लिए हमें उसके महत्त्व, और वीर्य्य रक्षा के उपायों की ही ओर ध्यान देना चाहिए। स्त्रियों की पर्य्यालोचना ब्रह्मचर्य्य के लिए साधन सिद्ध नहीं होती। यही, नहीं, किन्तु कभी-कभी वह बाधक भी हो जाता है।

यह हमारा दैनिक अनुभव है कि अधिकाँश लोग औरों के दोषों की आलोचना सदा किया करते हैं पर यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो वे दोष उन आलोचकों में भी भरे रहते हैं। सिद्धान्त यह है कि घृणित विचारों के विवेचन से दोष दूर नहीं होते प्रत्युत दृढ़ होते हैं। मन जब-तक सद्विचारों से नहीं भरा जायगा तब-तक सत्य की ओर उसकी गति कभी नहीं होगी। जिस मन में जैसी भावनाएँ सदा आती रहती हैं उसमें प्रतिक्रियाएँ भी वैसी ही होती रहती हैं। यह एक निर्विवाद बात है।

अभ्यास के लिए ब्रह्मचर्य्य अपेक्षित है। ब्रह्मचारी अल्प अभ्यास से अधिक लाभ प्राप्त कर सकेगा। किन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से हीन हैं उनसे अभ्यास तक भी न होगा। शास्त्रों में ऋतुगामी पुरुष को भी ब्रह्मचारी ही कहा गया है। जैसे रस-युक्त गीली लकड़ी जैसी चाहो वैसी मुड़ सकती है वैसे-ही शुक्र-रस से युक्त मनुष्य अभ्यास द्वारा अपने को इच्छानुसार बना सकता है। इस कार्य्य में युवाओं की अपेक्षा बालकों को अधिक सफलता मिलती है।

अभ्यास के लिए एक निश्चित प्रणाली आवश्यक है। इसका निश्चय कार्यारम्भ से पहले हो जाना चाहिए। आव-

श्यकता पड़ने पर इसमें परिवर्त्तन भी किया जा सकता है। परिवर्त्तन किसी भय या कठिनाई के कारण नहीं किया जाना चाहिए। अपनी निर्धारित प्रणाली में श्रद्धा और दृढ़ता रखनी चाहिए। जो व्यक्ति किसी कार्य को प्रारम्भ करके उसे बीच में अधूरा ही छोड़ देते हैं वे अपनी आत्मा के साथ विश्वास-घात कर आदत को बिगाड़ते हैं।

अभ्यास जब-तक आदत में न आजाय तब-तक उसमें नागा कभी नहीं करनी चाहिए। मान लीजिए, कोई व्यक्ति धागा लपेट रहा है। यदि असावधानी के कारण उसके हाथ से धागे की गट्टी एक बार गिर पड़े तो परिणाम क्या होगा? एक बार के गिर जाने से एक घण्टे का कार्य एक मिनट में ही नष्ट हो जायगा। ठीक इसी प्रकार अपने अभ्यास में एक दिन की नागा से कई दिनों का परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। यह बात स्मरण रखें।

लगातार अभ्यास से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य २४ घंटों तक ही परिश्रम करता रहे और वर्ष भर में कभी एक दिन भी विश्राम न ले। बिना विश्राम के प्रत्येक अभ्यास से जी ऊब उठता है; चाहे वह कितना ही रुचिकर क्यों न हो। अभ्यास प्रतिदिन नियत समय पर निश्चित विधि के अनुसार किया जाना चाहिए। उसका समय परिमित हो क्योंकि सकाम ध्यान नियत समय तक ही रहता है। प्रतिमास तीन-चार दिन बीच २ में विश्राम लेना चाहिए।

मेधा-विभाग

पहला अध्याय

प्रत्यवेक्षण

धर्म और विज्ञान

भारतवर्ष एक धर्म प्रधान देश है। यहाँ का कोई व्यक्ति कितना ही अशिक्षित क्यों न हो पर अपने धर्म का न्यूनाधिक ज्ञान और अभिमान उसे रहता ही है। वह अपने धर्म को ही सर्वोपरि समझता है। यह पुस्तक विज्ञान के अर्थ लिखी गई है। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पाठकों के सम्मुख धर्म और विज्ञान में क्या भेद है इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय।

आज-कल धर्म के असंख्य फ़िरके हैं। एक फिरका दूसरे से न्यूनाधिक अंश में भिन्नता रखता है। प्रत्येक धर्म के कुछ सिद्धांत निश्चित रहते हैं। उसका अनुयायी बनने के लिए उन सिद्धांतों को हमें सत्य मानना पड़ता है; अन्यथा हम उस धर्म में प्रविष्ट नहीं हो सकते। इसके सिद्धांत मतावलम्बियों के अनुभव पर आश्रित नहीं किन्तु उन प्रवर्त्तकों के अनुभव पर अवलम्बित रहते हैं जिन्होंने उसे चलाया है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म को ही लीजिये। इसमें ईसामसीह ईश्वर के पुत्र माने जाते हैं। वे ईश्वर के भेजे हुए दूत यहाँ हम मनुष्यों को शांति देने आए थे। इस कार्य के अर्थ उन्होंने कुछ सिद्धांत

निश्चित किए और उनका प्रचार किया। ईसाई बनने के लिए हमें वे सब सिद्धांत स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा हम ईसाई नहीं बन सकते। यही हाल सभी धर्मों का है।

धर्म-प्रवर्त्तकों ने कुछ अनुभव किये। उनसे उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार जो निष्कर्ष निकाले उनका प्रचार कर अपने अनुयायी बनाए। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को निजी अनुभव के उपयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं। सिद्धान्त वास्तव में सत्य है या असत्य, इसकी परीक्षा नहीं की जाती। इसमें श्रद्धा प्रधान है। इसके सिद्धान्तों पर ईमान लाओ तभी मुक्ति होगी अन्यथा घोर यम-यातना भोगनी पड़ेगी। प्रत्येक धर्म 'अपनी २ ढ़ापरी और अपना २ राग अलापता है'। सत्य की कसौटी पर कोई अपने सिद्धान्त को कसने के लिए उद्यत नहीं। इसी कारण असंख्य धर्म होगए और एक दूसरे का दुश्मन बन गया।

विज्ञान में यह बात नहीं। यहाँ के प्रत्येक सिद्धान्त अनुभव पर आश्रित है। प्रत्येक सिद्धान्त की परीक्षा की जाती है और जो सत्य सिद्ध होता है वही स्वीकार किया जाता है। यहाँ वाद-विवाद अधिकतर नहीं होता। सिद्धान्तों में मतभेद हो जाने पर परीक्षा से उसकी सचाई जानी जाती है। इसी कारण विज्ञान के प्रचार से योरप में पोपलीला जड़ से हिल गई और धर्म का केवल नामावशेष ही रह गया।

मेरे कहने का भाव यह नहीं है कि धर्म में सत्य है ही नहीं। धर्म में सत्य है और प्रत्येक धर्म का उद्देश्य सत्य का ही

प्रचार करना है। पर विज्ञान और धर्म के सत्यों में बड़ा भेद है। विज्ञान में सत्य वह है जो परीक्षा से सिद्ध हो, पर धर्म में सत्य वही है जिसे उसने सत्य माना हो। यहाँ प्रत्यवेक्षण अर्थात् निजी अनुभव को कोई महत्त्व नहीं। यही इन दोनों में भेद है।

प्रकृति में सत्य अपरिवर्तनीय है। जो नियम एक हजार वर्ष पहले था वही आज भी है और वही कालान्तर में भी रहेगा। अर्थात् सत्य सदा सत्य ही रहेगा और सब के लिए सत्य होगा। इसी सत्य की खोज करना विज्ञान का परम् उद्देश्य है। विज्ञान ने अपने चमत्कारों से संसार को जो चकित कर दिया है उसका मुख्य कारण यही सत्य की जिज्ञासा है।

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यही है कि मनुष्य सत्य की खोज कर सके। हम भारतीयों का यह परम् सौभाग्य है कि हमारे शास्त्रों में मनुष्य को सत्य-प्रिय और सत्यान्वेषी बनने का पद-पद पर उपदेश है। इन्हें सत्य ही अति प्रिय था। यही कारण है कि विज्ञान से जहाँ अन्य धर्मों को चोंट लगती है वहाँ पवित्र आर्य-धर्म के गाम्भीर्य्य का पता लगता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्रेडरिक ने एक स्थान पर कहा है:— "सुख चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह अन्धविश्वास की जड़ संसार से उखाड़ कर फेंक दे और प्रकृति में सदा सत्य की खोज करे।" जो लोग परम्परागत अमूलक विश्वासों के गुलाम बने हैं, जो पुराणोक्त अत्युक्तियों को बिना सोचे समझे

सत्य स्वीकार कर लेते हैं, वे विज्ञान में कभी प्रवेश नहीं कर सकते। मेरे विचार में उन्हें विज्ञान का नाम लेने तक का भी अधिकार नहीं है।

कर्म-हीन और विज्ञान

जैसे अन्ध श्रद्धालुओं को विज्ञान का अधिकार नहीं, वैसे-ही उन कर्म-हीन पुरुषों के लिए भी यहाँ कोई स्थान नहीं है जिनका मूल-मंत्र यह है—

ऐशकर दुनिया में ग़ाफिल, जिंदगानी फिर कहाँ?
जिन्दगी भी ग़र मिली, तो नौजवानी फिर कहाँ??

ऐसे मनुष्य संसार में वे कार्य्य नहीं कर सकेत जिनसे उन्हें या उनके समाज को कुछ लाभ पहुँचे। प्रत्युत ये समाज को भार रूप होते हैं। इन्हें हितकर भाषण भी कडुआ लगता है। ये सदा दास मलूका-मन्त्र का ही जप किया करते हैं, जो इस प्रकार है—

पंछी करे न चाकरी, अजगर करे न काम।
दास मलूका यों कहे, सब के दाता राम॥

ये सर्वदा दास ही बने रहते हैं। घर और बाहर ठुकराए जाते हैं। इनका जीवन रसहीन होता है। ऐसे पुरुष मृत-मना कहे जाते हैं। इन से विज्ञान की उन्नति की आशा करना नितान्त भूल है। क्योंकि ये अपनी ही उन्नति करने में असमर्थ होते हैं। ये लोग भाग्य के भरोसे हाथ-पर-हाथ रक्खे बैठे

रहते हैं। बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें हाँका करते हैं। न स्वयं ही कुछ करते हैं और न औरों को ही करने देते हैं।

विज्ञान का मार्ग बड़ा कठिन है। इसमें सफलता प्राप्त करना हँसी खेल नहीं। जिनमें जीवन है, स्वदेश प्रेम है, खोज करने की लगन है, आपत्तियों को सहने का साहस है, जिनका तपस्वी जीवन है, जो अपने जीवन को हथेली पर ले सकते हैं; वे ही विज्ञान के सच्चे अधिकारी हैं।

विज्ञान के अधिकारी-अनधिकारियों की चर्चा हो चुकी। इसके उपरान्त जो व्यक्ति विज्ञान में प्रवेश करना चाहते हैं, उन्हें शिक्षा की आवश्यकता है। हम पहले लिख चुके हैं और यहाँ भी वही लिखते हैं कि शिक्षा वही है जिससे मनुष्य विज्ञान के योग्य बन सके। हमारा तात्पर्य्य इसी शिक्षा से है। जिसके द्वारा मनुष्य को कुछ बातों का ज्ञान प्राप्त हो जाय पर स्वतन्त्र रूप से ज्ञानोपार्जन की शक्ति न बढ़े, वह वास्तव में शिक्षा नहीं। हम उसे कभी भी शिक्षा नहीं कह सकते।

वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली अति दूषित है। इसका रोना हमारे ही देश में नहीं रोया जाता किंतु पाश्चात्य देशों में भी इसकी सदोषता स्वीकार की जाती है। पाठ्य-पुस्तकों को रट कर परीक्षा पास कर लेने का नाम शिक्षण नहीं है। इस पद्धति से केवल 'पढ़तमूर्ख' उत्पन्न होते हैं। इन विद्यार्थियों में अपने आप प्रत्यवेक्षण करने की शक्ति नहीं होती। उनका

ज्ञान औरों के अनुभव पर ही आश्रित रहता है। इसी कारण उनकी ज्ञानोपार्जन शक्ति कुंठित हो जाती है।

कुछ दिन हुए अमेरिका के एक विश्वविद्यालय के कतिपय अण्डर-ग्रेजुएट विद्यार्थियों की परीक्षा ली गई थी। इस परीक्षा में उनकी पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ साधारण ज्ञान सम्बन्धी प्रश्न पूछे गए थे। परीक्षार्थियों की कुल संख्या सौ थी; पर इनमें केवल दो ही विद्यार्थी ठीक २ उत्तर दे सके। शेष विद्यार्थियों के उत्तर बड़े ही हास्यास्पद थे। अधिकाँश लोगों को मोटी बातों तक का भी ज्ञान न था। इस परीक्षा की योजना न्यूयार्क से निकलने वाले 'न्यूरिपब्लिक' पत्र ने विद्यार्थियों की विद्या बुद्धि की जाँच करने के लिए निकाली थी। जिन्हें इसका विस्तृत वर्णन भाषा में पढ़ने की इच्छा हो वे 'सरस्वती' के (जुलाई सन् १९२६) अंक में देख सकते हैं।

विज्ञान का यह सर्व-तन्त्र सिद्धांत है कि अभाव से भाव नहीं होता। इसी भाव का प्रतिपादन करते हुए सांख्यकार कहते हैं 'नावस्तुनोवस्तुसिद्धिः' *। सभी प्रकार के दार्शनिक इस सिद्धान्त से सहमत हैं। अतः सिद्ध होता है कि मनुष्य में प्राकृतिक शक्तियाँ होती हैं; अन्यथा उनका विकास न होगा। हमें इन शक्तियों पर असीम विश्वास रखना चाहिए।

हम देखते हैं कि सब वस्तुएँ जिनमें जीवन है, अन्दर से ही बढ़ती हैं। हमारा शरीर अन्दर से ही बढ़ता है। बाह्यसाधनों

---

* सां. द. १-७८.

द्वारा परिस्थिति अनुकूल की जा सकती है, पर किसी शरीर की बाढ़ इनसे सम्भव नहीं। माली वृक्ष को बढ़ाने में असमर्थ है; हाँ, वह खाद्य सामग्री, वायु, स्थान आदि का प्रबन्ध करके उसके लिए परिस्थिति अनुकूल कर सकता है--यही उस माली के हाथ में है। हम भी हमारे शरीर को बढ़ाने के लिए इन्हीं साधनों का अवलम्बन करते हैं।

आधुनिक शिक्षा को यह पता नहीं कि उन्नति अन्तस्तल से ही होती है; अन्यथा वह अपने कृत्रिम उपायों से उन प्राकृतिक शक्तियों को कुचलने का यत्न कभी नहीं करती। यह बात स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी शिक्षक अपने व्यक्तित्व से किसी नई शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं कर सकता। जो शक्तियाँ स्वभावतः प्राप्त हैं उनकी उन्नति के लिए वह परिस्थिति अनुकूल कर सकता है और उसका कर्त्तव्य भी यही है। इसके अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं कर सकता।

शिक्षक चाहे कितना ही विद्वान हो पर नूतन शक्ति को उत्पन्न करने के लिए उसकी प्रतिभा असमर्थ ही रहती है। जो शिक्षक इस बात को न समझ कर अपने अज्ञान से इसके विरुद्ध अनधिकार चेष्टा करेगा, वह विद्यार्थी की अलेखनीय हानि करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

शिक्षा का प्रारम्भ बाल्यकाल से ही होना चाहिए। यही अवस्था शिक्षा के लिए उपयुक्त है। जिन्हें अपने बालकों की पूर्ण उन्नति करना हो वे उन्हें स्वतन्त्र रखें ताकि वे (बालक)

अपने व्यक्तित्व का विकास स्वयं ही कर सकें। रुचि के अनुसार मनुष्य थोड़े ही समय में अधिक उन्नति कर सकता है। हाँ, यह रुचि स्वाभाविक हो, कृत्रिम नहीं।

इस अध्याय में हमें प्रत्यवेक्षण का विचार करना है। हम विषायान्तर की ओर जा रहे हैं। इस बात का हमें ख्याल है। पर इन भारतीय बालकों और उनकी शिक्षा की दुर्दशा देखकर इन शब्दों को लिखे बिना हम नहीं रह सके। क्योंकि बालक राष्ट्र का धन है, ये समाज के आधार स्तम्भ हैं, देश की भावी उन्नति इन्हीं पर निर्भर है।

बालक कोई खिलौना नहीं, वह हमारी सुख की सामग्री नहीं, वह खेलने की गेंद नहीं कि जिधर ध्यान में आया उधर उठाकर फेंक दिया। उसे पहना-ओढ़ाकर अपने सुख की सामग्री समझना निरी भूल है। परमात्मा ने आपको इन्हें इसलिए नहीं दिए हैं कि आप उन्हें केवल अपने मनोरंजन के साधन समझकर अपनी इच्छानुसार नचायँ। उस विश्वपति ने आपको इन्हें इसलिए नहीं दिए हैं कि आप अपने क्रोध का आवेश इन्हें मार-पीट कर धो डालें। स्मरण रखिये ? ये नवजात बालक आपको उस संसारोपवन के माली ने पुरस्कार स्वरूप में दिए हैं। यदि आप उसके दान का किसी प्रकार भी दुरुपयोग करेंगे तो निस्सन्देह उसके कोप की प्रचण्डाग्नि में भस्मीभूत हो जायँगे।

भाषा के एक कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

खिलौना समझ कर बिगाड़ो न इनको,
कि ये भी उसी के बनाये हुए हैं।

ये आपके हाथों द्वारा गढ़े हुए पुतले नहीं कि आप अपनी इच्छानुसार इन्हें जैसे चाहें वैसे गढ़लें। ये अपनी निजी शक्तियाँ लाए हैं और इन्हीं के विकास का नाम शिक्षा है।

अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय बालकों की दशा अधिक दयनीय है। इसी कारण उनके सम्बन्ध में हमने बहुत कुछ लिखा। हमारा तात्पर्य्य यही है कि शिक्षा की आड़ में प्राकृतिक शक्तियों को मत कुचलो। इस शिक्षा से हम अशिक्षित ही भले कि जिससे हमारी स्वाभाविक शक्तियों का ह्रास न हो। इन पर पुस्तकों का बोझ लादकर इनकी बाढ़ को मत रोको। पुस्तकों से बुद्धि नहीं बढ़ती; वह तो नैसर्गिक शक्ति है, अन्दर से ही बढ़ेगी। क्या माँस के लपेटने से भी कभी किसी की शक्ति बढ़ी है? नहीं, कभी नहीं? बाढ़ सदैव अन्दर से ही होगी, बाहर से नहीं। ढेर की ढेर पुस्तकें हमारे कोर्स में रख दी जाती हैं। पर क्या आपने कभी सोचा भी है कि इतना भोजन हमारा मन वास्तव में पचा सकेगा भी या नहीं? अपरिपक्व रहा हुआ क्या वह सड़कर रोग उत्पन्न न करेगा। ऐसे सड़े हुए भोजन से लाभ की क्या आशा रखी जा सकती है। भलाँ, सोचिए तो?

अब हम पुस्तकों के कीड़े न बने रहें, रट-रट कर हमारे दिमाग को खराब न करें, किन्तु मन की उन स्वतंत्र शक्तियों को बढ़ायँ जिनके द्वारा हम स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकें। कोई यह न समझले कि हम पुस्तकों के शत्रु हैं और हमारा ध्येय पुस्तकों की महत्ता को नष्ट कर उन्हें सर्वथा निरुपयोगी ठहराने का है। नहीं, यह हमारा तात्पर्य नहीं। इसी कारण हम उनका वर्णन पहले लिख चुके हैं। हमारा तात्पर्य्य यह है कि पुस्तकें पढ़ी जायँ और अवश्य ही पढ़ी जायँ; पर मानसिक भोजन समझ कर उन्हें इतना ही पढ़ा जाय कि वे अजीर्ण न करें। इसके पश्चात् अब हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

इस अध्याय में हमें प्रत्यवेक्षण का विचार करना है। कई लोग प्रत्यवेक्षण के भाव को प्रकट करने के लिये निरीक्षण (निर्+ईक्षण) शब्द का उपयोग करते हैं, पर हमें यह शब्द ठीक नहीं जँचता। अतः इसका प्रयोग हमने इस पुस्तक में नहीं किया है।

विज्ञान का उद्देश्य प्राकृतिक नियमों को ढूँढना है। हमारे पास कोई इन्द्रिय ऐसी नहीं जिसके द्वारा ये नियम प्रत्यक्ष हो-सकें। केवल प्रत्यवेक्षण ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम इन नियमों की खोज कर सकते हैं। इसी कारण विज्ञान क्षेत्र में प्रत्यवेक्षण का महत्व अत्यधिक है।

अन्य शक्तियों के सदृश यह शक्ति भी प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। रुचि विशेष से इसका उपयोग विविध ओर

होता है। किन्तु कई मनुष्य शास्त्र की विधि का अनुसरण करके इसे बढ़ा लेते हैं और कई अशास्त्रीय मार्ग का अवलम्बन कर इसका ह्रास करते हैं। कृष्णचन्द्र ने भी गीता में यही कहा है कि शास्त्र के विरुद्ध जो लोग घोर तप करते हैं, वे अपना ही नाश करते हैं। इसी कारण भिन्न २ मनुष्यों में यह शक्ति न्यूनाधिक पायी जाती है।

जो मनुष्य वैज्ञानिक विधि से अभ्यास करते हुए इस शक्ति का विकाश करते हैं, वे प्रकृति को जान कर अपने जीवन को उपयोगी बनाते हैं और जो इस ओर ध्यान नहीं देते वे सदा गुलाम बने रहते हैं; उनका जीवन औरों की दया पर ही निर्भर रहता है।

जीवन में पदार्थों का उपयोग होता है। जो मनुष्य जितने अधिक पदार्थों का उपयोग जितनी अधिक प्रकार करेगा वह उतना ही अधिक उन्नत होगा। हम देखते हैं कि नीच और जंगली जातियाँ बहुत ही कम पदार्थों का उपयोग करती हैं अपितु जो उच्च और उन्नत जातियाँ हैं उनमें अनेक पदार्थों का उपयोग कई प्रकार से होता है। अर्थात् प्रकृति के पदार्थों का अधिक उपयोग उन्नति का लक्षण है। जिस मनुष्य का ज्ञान जितना विस्तृत होगा उसका सम्मान भी उतना ही अधिक होगा। इसे हम प्रतिदिन और सर्वत्र अनुभव करते हैं।

पदार्थों का उपयोग वही मनुष्य कर सकता है जिसे उनका बोध हो। जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ

का बोध नहीं, वह उसका कैसे उपयोग करेगा। बोध के लिये पदार्थों के केवल रूप और आकार का ज्ञान लेना ही पर्य्याप्त नहीं किन्तु उनके गुण, धर्म, और अन्य पदार्थों के साथ उनका पारस्परिक सम्बन्ध का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इन बातों के जाने बिना उनका यथावत् उपयोग नहीं होता और उपयोक्ता को पूर्ण लाभ से वंचित रहना पड़ता है।

प्रश्न हो सकता है कि इन सब बातों का ज्ञान हमें कैसे प्राप्त हो। इसका उत्तर केवल 'प्रत्यवेक्षण' शब्द द्वारा ही दिया जा सकता है। यही सब उन्नति का मूल-मन्त्र है। विज्ञान-मन्दिर इसी की नींव पर रखा हुआ है। आवरण से ढका हुआ यही सूर्य छिपा है जिससे प्रकृति के गाम्भीर्य्य का परिचय प्राप्त हो सकता है।

पुस्तकों द्वारा अनेक पदार्थों के नियम ज्ञात हो सकते हैं; पर बिना अनुभव किए उनका उपयोग कैसे हो! कल्पना कीजिए, मैं तैरना चाहता हूँ। इस विषय की मैंने अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं। पर क्या पुस्तकों के पढ़ लेने से मै एक अच्छा तैराक बन गया। यदि मुझे उठाकर कोई नदी में फेंकदे तब क्या हो? पुस्तक का ज्ञान पुस्तक में और मेरे मन में हो सकता है पर इस समय वह ज्ञान बिना प्रत्यक्षानुभव या अभ्यास के किसी काम का नहीं। मुझ से तो वह व्यक्ति अच्छा है जिसने एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी लेकिन तैरने का अभ्यास करके

अपना अनुभव बढ़ा लिया है। वह मुझ से अच्छा तैरता है और मेरे और मेरे पुस्तकी ज्ञान पर हँसता है।

वास्तव में पुस्तक वह है जो अपने विषय का परिचय देते हुए पढ़ने वालों में स्वयं ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति बढ़ादे। आज-कल की पुस्तकों में शब्दाडम्बर अधिक और भावों की न्यूनता रहती है। जो कुछ भी ज्ञान उनमें रहता है वह भी इस प्रकार प्रकट किया जाता है कि पढ़ने वाला उस सीमा को उलांघकर आगे नहीं बढ़ सकता। हमारी मानसिक दासता का यही कारण है।

आज-कल पुस्तकों की कमीं नहीं और न कमी है पढ़ने वालों की; पर कमी है उन पुस्तकों की जो स्वतन्त्रानुभव की शक्ति बढ़ादें। इसके अभाव में प्रत्येक बात के लिये हमें पुस्तकों के पत्ते टटोलना पड़ते हैं; उन्हीं पर हमारी श्रद्धा है और वहीं तक हमारी गति है। जब ग्रन्थकार स्वयं किसी बात का अनुभव कर उन्हें आपके लिये पुस्तकाकार में लिख सकता है तब क्या कारण है कि आप उन बातों का अनुभव स्वयं नहीं कर सकेत। वास्तव में अनुभव करने की शक्ति सब के पास होती है पर उसका उपयोग करना बहुत कम लोग जानते हैं।

विज्ञान की उन्नति प्रत्यवेक्षण पर ही अवलम्बित है। जो मनुष्य औरों के सिद्धान्तों का आदी न होकर स्वयं प्रत्यवेक्षण करता है, वही सृष्टि के गूढ़ रहस्यों का पता लगा सकता

है—वही नये २ पदार्थों की खोज कर सकता है । जिस आवि-
ष्कार का नाम आज हम सुन रहे हैं वह किसी के सिर से
एकाएक न निकला था । उसके लिए उसके आविष्कर्त्ता को
कई वर्षों तक सतत् प्रत्यवेक्षण करना पड़ा है । यदि आप
वैज्ञानिकों की जीवनी पढ़ेंगे तो इसकी सत्यता का अनुभव होगा ।

पाठशालाओं में विद्यार्थी-गण पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्त
कर लेते हैं पर इस शक्ति का उपयोग नहीं करते; फलतः
उनका ज्ञान पाठ्य पुस्तकों तक ही सीमित रहता है । उनके
अतिरिक्त इन्हें साधारण से साधारण बातें भी ज्ञात नहीं होतीं ।
जो बात पढ़ा-सुनाकर इन्हें खूब समझा दी गई हो, वही इनकी
समझ में (भविष्य में) आ सकती है, उसे ही ये देखते और
सुनते हैं, उसी का अनुभव कर सकते हैं; इतर बातें इनके
लिए नहीं-सी होती हैं, उन्हें देखते हुए भी ये नहीं देखते
और सुनते हुए भी नहीं सुनते ।

एक वस्तु में अनेक गुण होते हैं । ठीक इसी प्रकार एक
स्थान में अनेक वस्तुएँ होती हैं, किन्तु साधारण मनुष्य को
उन सब का ज्ञान नहीं होता । कारण यह कि वह ध्यान-पूर्वक
अवलोकन नहीं करता । प्रतिदिन की व्यवहृत वस्तुओं में कई
वस्तुएँ ऐसी रहती हैं जिनकी विशेषताओं की ओर हमारा
ध्यान नहीं जाता । देखते हुए भी हम उन्हें नहीं जानते । इस
कारण मनोविज्ञान-कोविदों का यह आदेश है कि प्रत्येक वस्तु
जिससे हमारा सम्बन्ध है, ध्यान-पूर्वक देखी जानी चाहिए ।

हमें इस बात को लक्ष्य में रखनी चाहिए कि जिस वस्तु का हम अवलोकन कर रहे हैं उसमें कई विशेषताएँ हैं और इनका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही प्रत्यवेक्षण है।

संसार में कोई दो वस्तु एक जैसी नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ में कुछ विशेषता ऐसी रहती है, जिससे वह अपना अस्तित्व अन्य पदार्थों से पृथक रखता है। इसकी हमें खोज करनी चाहिए। आपको ज्ञात होगा कि ग्रामीण लोग सब अंग्रेजों को एक जैसे ही देखते हैं। उनमें से अधिकाँश व्यक्ति एक को दूसरे से पृथक नहीं पहचान सकते। जैसे हम एक जैसे नहीं, वैसे-ही वे भी समान नहीं होते। प्रत्येक व्यक्ति में मनुष्य के मुख्य गुण होते हुए भी कुछ ऐसी विशेषता होती है जिससे वह सहज में पहचाना जा सकता है। तर्क-शास्त्र में ऐसी विशेषताओं को गौण गुण कहते हैं।

जैसे प्रत्येक पदार्थ सजातीय पदार्थ से कुछ भिन्न होता है वैसेही वह परिस्थिति के परिवार्त्तित हो जाने से रूपान्तरित भी हो जाता है। क्या आपने कभी देखा है कि शान्त और हिलते हुए वृक्ष के पत्तों के रंगों में कितना भेद दिखाई देता है। भिन्न २ समय में जल भिन्न २ रंगवाला दिखाई देता है। जल जो विवर्ण होता है, कुए या तालाब में हरे रंग का, ऊँचे स्थान से गिरते हुए श्वेत, और बर्तन में रंग-रहित दिखाई देता है। इस ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए।

विद्यार्थी-गण विज्ञान में प्रवेश करते हैं। तद्विषयक पुस्तकों का खूब अध्ययन करते हैं, किन्तु इन्द्रिय, मेधा, प्रत्यवेक्षण आदि शक्तियों का विकास नहीं करते। जो शक्ति जिस दशा में है उसी से वे सन्तुष्ट रहते हैं। पर यदि इनका विकास किया जाय तो अल्प समय और श्रम से ही अधिक लाभ हो सकता है।

मान लीजिए, हमें कोई यान प्राप्त हुआ है। इसके द्वारा हम देश-विदेश की यात्रा कर सकते हैं। पर क्या इसका उपयोग करना ही हमारी बुद्धिमानी है! नहीं, यह हमारा आलस्य है। हमें उसकी शक्ति बढ़ाकर अधिक कार्य लेने का यत्न करना चाहिये। यही हमारी बुद्धिमानी और यही हमारा कौशल है। क्योंकि प्राप्त वस्तु का उपभोग तो पशु-पक्षी भी करते हैं। विज्ञान के सिवा हमारा प्राचीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि ये शक्तियाँ विकास के योग्य हैं। यदि अब भी हम इस ओर ध्यान न दें तो इससे बढ़कर उस जगन्नियन्ता के प्रति हमारी कृतघ्नता क्या हो सकती है?

प्रत्येक वस्तु को बड़े ध्यान-पूर्वक अनुभव करना चाहिए। अभी हमें साधारण-से-साधारण वस्तु का भी सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाया है। जो वस्तु हमारे प्रतिदिन के उपयोग की है; यहाँ-तक कि जिसकी ज्ञान-चर्चा भी हम उपेक्षणीय समझते हैं, उसके विषय में भी हमारा ज्ञान अभी अति सीमित है। उसकी कई बातें ऐसी हैं जिन्हें हम अभी नहीं जान पाएं हैं। इसे प्रत्येक बार ध्यान

में रखना चाहिए। पाश्चात्य वैज्ञानिक गण कभी किसी वस्तु के सम्पूर्ण ज्ञान का दावा नहीं करते। इसी कारण प्रत्यवेक्षण की जिज्ञासा उनकी बढ़ी हुई है। उनके आश्चर्य-जनक आविष्कारों का भी रहस्य यही है। परन्तु हम लोगों की दशा इससे भिन्न है। प्रत्येक वस्तु के यथार्थ ज्ञान का हमें बड़ा गर्व होता है, चाहे उस विषय में हमारा प्रवेश नाम-मात्र का ही क्यों न हो। यह दुरभिमान ही हमारी जिज्ञासा का घातक है और यावत् यह भाव रहेगा तावत् हमारी उन्नति असम्भव ही है।

आधुनिक पुस्तकें जो किसी शक्ति को बढ़ाने के लिये लिखी जाती हैं, उनमें अनेक अभ्यास दिए रहते हैं। प्रत्येक शक्ति के लिए पृथक् २ अभ्यास होते हैं। कुछ दिनों तक इनका अभ्यास प्रति-दिन करना पड़ता है। उनके लेखकों का दावा होता है कि इन अभ्यासों से तत्सम्बन्धित मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं।

अंग्रेजी पुस्तकें प्रायः सभी इसी ढँग की होती हैं। हिन्दी में भी अब इसका अनुकरण होने लगा है। खूब विचार और परीक्षा के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह प्रणाली अत्यन्त दूषित है और विद्यार्थी के समय को नष्ट करने के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं पहुँचाती। इसके मुख्य कारण ये हैं:—

(१) इनमें ऐसे अभ्यास होते हैं जिनमें पाठकों की रुचि नहीं होती। अभ्यासों की विपुलता के कारण वे और भी

अरुचिकर बन जाते हैं। समय और श्रम का विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि इनसे जो लाभ होता है वह नहीं के बराबर है। दो-तीन दिनों में ही जी ऊब उठता है और विद्यार्थी उन्हें शीघ्र ही छोड़ देते हैं।

(२) प्रत्येक मनुष्य की रुचि और क्षेत्र भिन्न २ होने से सब के लिए एक अभ्यास नहीं हो सकते।

(३) मनो विज्ञान का यह एक सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि जिस बात का अभ्यास किया जायगा उसकी ओर ही प्रगति होगी; अन्यत्र नहीं। टेलीग्राफी के अभ्यास से तार के काम में ही प्रगति हो सकती है, किसी अन्य ओर नहीं। इस नियमानुसार अभ्यास अपने ध्येय के अनुकूल बनाये जाने चाहिएँ, अन्यथा असम्बन्धित क्रियाओं से लाभ की आशा रखना निरी मूर्खता है।

(४) एक शक्ति के लिए एक ही प्रकार का अभ्यास तो होता ही नहीं है। उत्तरोत्तर उन्नति से पूर्व अभ्यास निर्वीर्य्य हो जाते हैं। पुनः मन की अनेक शक्तियाँ होने से अभ्यासों की संख्या सहस्रों तक पहुँचेगी। ऐसी अवस्था में सब अभ्यासों का प्रतिदिन होना असम्भव है। जिन शक्तियों का अभ्यास किया जाता है वे यदि विकसित भी होने लगीं तो जिनका अभ्यास छोड़ दिया गया है वे पुनः संकुचित होने लगेंगी।

इन कारणों का विचार कर हमने अपनी पूर्व पुस्तकों में अभ्यासों की भरमार करना अयोग्य समझा। उसी नियम को इस पुस्तक में भी निभाया है। हमारा सिद्धान्त है कि शक्तियों का विकास उनके उपयोग से होता है। अनर्थक और विध्येय कार्य्यों में लगा कर इन की शक्ति का ह्रास करना हम अभीष्ट नहीं समझते। अपने २ क्षेत्र में ही प्रत्येक मनुष्य इनका उपयोग करे। ताकि उन्हें सफलता के साथ २ विकास का भी लाभ हो। जिन के द्वारा इनके विकास में बाधा पहुँचती है उन पर भी प्रकाश डाला गया है, जिससे अभ्यासकों की कोई हानि न हो।

दूसरा अध्याय ।

प्रत्यवेक्षण (शेषांश)

गत अध्याय में हमने प्रत्यवेक्षण और तत्सम्बन्धित अन्य साधारण बातों का वर्णन किया। इस अध्याय में कुछ विशेष बातों का विचार करना है ।

प्रत्यवेक्षण के दो प्रकार हैं-एक साधारण और दूसरा परीक्षणात्मक । साधारण प्रत्यवेक्षण के दो उपभेद हैं—एक सत्वर और दूसरा गम्भीर । इसके लिए निम्नाङ्कित वर्गीकरण देखिए—
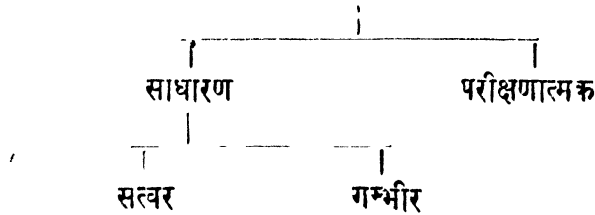
सूचना—(१) प्रत्यवेक्षण इन्द्रियों से होता है । अतः इन्द्रिय-भेद से प्रत्येक के पाँच प्रकार और होते हैं ।

(२) परीक्षणात्मक प्रत्यवेक्षण में सत्वर भेद नहीं होता।

जो घटना (या जो पदार्थ) जैसी हुई हो उसे उसके क्रम में बिना हस्तक्षेप किए वैसे-ही अन्वेक्षित करना साधारण प्रत्यवेक्षण है । सत्वर और गम्भीर ऐसे इसके दो भेद हैं ।

सत्वर-साधारण-प्रत्यवेक्षण में त्वरा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, और गंभीर-साधारण-प्रत्यवेक्षण में ज्ञान-गांभीर्य्य की ओर। पहले का उद्देश्य यह है कि न्यून से न्यून समय में अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाय, और दूसरे का उद्देश्य यह है कि एक वस्तु का विस्तृत, गंभीर और नूतन ज्ञान प्राप्त किया जाय। गंभीर प्रत्यवेक्षण में समय की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। कई मनुष्य पहले में और कई दूसरे में दक्ष होते हैं। आप को अभ्यास से दोनों शक्तियाँ बढ़ानी चाहिये।

सत्वर प्रत्यवेक्षण में समय का ही मूल्य रहता है। इसके द्वारा उपार्जित ज्ञान में नूतनता प्रायः नहीं रहती। चोर और उठाईगिरों में यह शक्ति विशेष रूप से समुन्नत रहती है। वे एक ही बार की दृष्टि से सारे गृह की स्थिति से इतने परिचित हो जाते हैं कि उन्हें उस घर में अन्धेरे में भी चलना कठिन नहीं मालूम होता। जिस वस्तु को घरवाले घंटों में ढूँढ़ पाते हैं, उसे वे मिनटों में खोज लेते हैं। चोर की सफलता इसी शक्ति के विकास पर निर्भर है।

इस शक्ति को बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास का उदाहरण—

जिस कमरे में आप बैठे हुए हैं, उसमें ध्यान-पूर्वक पाँच मिनट तक चारों ओर देखते रहिए। इसके उपरान्त एक पत्र पर उन सब वस्तुओं के नाम अपनी स्मृति से लिखिए। जब

आप सब कुछ लिख चुकें तब उस सूची को जाँचिए। कौन-कौनसी वस्तुएँ छूट गई हैं, उन्हें देखिए और उनका पुनः स्मरण करिए। आठ रोज तक इसी प्रकार का अभ्यास करते रहिए। कागज़ पर लिखते समय अपनी स्मृति से ही कार्य लें; उन वस्तुओं की ओर न देखें। कमरे में प्रतिदिन वे ही वस्तुएँ नहीं होनी चाहिए।

दूसरा उदाहरण—

किसी बाग़ में जाइए। उस ओर एक मिनट तक ध्यान-पूर्वक अवलोकन कीजिए। पश्चात् देखी हुई सभी वस्तुओं को एक कागज़ पर लिखिए। वृक्षों और लताओं की संख्या, उनके प्रकार, ऊँचाई, रूप, रंग, पुष्प, क्यारियाँ आदि सभी बातें जो आपने देखी हों, लिखिए। पुनः उसकी जाँच करिए। इससे आपको पता लग जायगा कि एक बार के निरीक्षण से आप कितनी वस्तुओं को स्मरण रख सके हैं। यदि आपने यह अभ्यास कुछ दिनों तक जारी रखा तो आपको मालूम पड़ेगा कि इस ओर कैसी आश्चर्य्य-जनक सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

हमने ऊपर दो दृष्टान्त दिए हैं। उन्हीं के अनुसार बालक कई खेल ऐसे खेलते हैं जिनसे मनोरञ्जन के अतिरिक्त इस शक्ति को भी बड़ी सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए एक-दो खेलों का वर्णन दिया जाता है—

(१) भिन्न २ रंग की कुछ छोटी २ वस्तुएँ टेबल पर रखकर कपड़े से ढाँक दी जाती हैं। जिस बालक के खेलने की बारी आती है उसके सामने कुछ देर तक वह कपड़ा उठा लिया जाता है और पुनः वह वैसा ही ढाँक दिया जाता है। इसके पश्चात् वह बालक एक २ वस्तु का नाम, उसके रङ्ग, तथा आकार-प्रकार, आदि का नाम स्मरण करके बोलता है। जो लड़का कम समय में अधिक वस्तुओं को देख सकता है वही अच्छा खिलाड़ी समझा जाता है।

(२) एक लड़का अपनी बँधी हुई मुट्ठी से कुछ उँगलियाँ उठाकर पुनः बन्द कर लेता है। यह कार्य बड़ी तेजी से किया जाता है। इसके पश्चात् दूसरा लड़का उन उठाई हुई उँगलियों की संख्या बतलाता है। उत्तर ठीक-ठीक न निकलने पर उसे एक चपत या घूँसा दण्ड दिया जाता है। भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में न्यूनाधिक रूप से परिवर्त्तित दशा में यह खेल खेला जाता है। यूरोप और अमरीका के नव वयस्क बालकों में भी इसका खासा प्रचार है। इटली में इसे 'मोरो' कहते हैं।

इन सब का उद्देश्य यही है कि थोड़े समय में मनुष्य अधिक ज्ञान प्राप्त करना कैसे सीखे। प्रत्येक व्यक्ति को इसकी आवश्यकता पड़ती है। जिसमें यह शक्ति समुन्नत होती है वही दूरदर्शी बनकर अपना भावी जीवन उच्च और सुखमय

बना सकता है। इस शक्ति की सम्वृद्धि के लिए जो अभ्यास ऊपर दिए हैं, उनमें कोई जादू नहीं जो औरों में न हो। ये परिवर्त्तनीय हैं। ध्येय को ध्यान में रखकर अपनी परिस्थिति, क्षेत्र, और रुचि के अनुसार इन्हें निश्चित करना चाहिए।

गम्भीर-साधारण-प्रत्यवेक्षण।

इस अन्ववीक्षण में समय के बचाव का इतना मूल्य नहीं जितना ज्ञान-गाम्भीर्य्य का है। इन शब्दों से कोई यह अभिप्राय न निकाल ले कि यह काम बड़ी सुस्ती से किया जाता है। नहीं, समय के नष्ट न होने का विचार तो सदा रखना ही चाहिए। कार्य शीघ्रता के साथ किया जाय पर वह ऐसी न हो कि वस्तु के विस्तृत ज्ञान को ठेंस लगे।

किसी पदार्थ का सूक्ष्म-ज्ञान और उसके समान अन्य पदार्थों से उसकी भिन्नता जानना इस प्रत्यवेक्षण का मुख्य उद्देश्य है। यह ज्ञान एक-दो दिन में प्राप्य नहीं। जो अध्यवसायी हैं उन्हें ही इसमें सफलता प्राप्त हो सकती है।

किसी पदार्थ को प्राप्त करने की कामना का नाम इच्छा है। यही जब ज्ञान प्राप्त करना चाहती है तब जिज्ञासा कही जाती है। यह उसी विषय की ओर होती है जिसका अल्प ज्ञान मन में पहले से विद्यमान हो, और अधिक जानने की इच्छा हो। अध्यवसाय इसी जिज्ञासा पर निर्भर है। जिस मनुष्य में यह जितनी तीव्र होगी वह उतना ही अध्यवसायी होगा। प्रत्यवे-

क्षण के कार्य्य में ऐसे ही मनुष्यों को सफलता मिल सकती है। जिस मनुष्य में जिस कार्य के लिये तीव्र जिज्ञासा न हो, जिससे प्रेम न हो, और जिसके लिये वह तप न कर सके; उस ओर प्रत्यवेक्षण नहीं हो सकता। विज्ञान के क्षेत्र में इसका महत्त्व कितना है, इसके लिये निम्न लिखित दृष्टांत पढ़िये।

आगासीज़ नामका एक प्रतिभाशाली वैज्ञानिक था। उसकी प्रशंसा सुन कर जीवन-शास्त्र का अध्ययन करने के निमित्त एक विद्यार्थी उसके पास आया। आगासीज़ उसकी तीव्र जिज्ञासा को देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ और अपनी प्रयोग-शाला से एक मछली देकर कहा—"बिना काटे-चीरे तुम इसका प्रत्यवेक्षण करो और इस संबन्ध में जितना ज्ञान प्राप्त कर सको उसे लिख कर मेरे पास लाओ।" शिष्य उस मछली को लेकर अपने कमरे में चला गया। १०-१५ मिनट तक उसे देख कर वह सोचने लगा कि मैं इसके विषय में सब ज्ञातव्य बातें जानता हूँ, जिस वस्तु को मैं प्रति दिन देखता हूँ अब उसके सम्बन्ध में क्या जानना शेष है, ऐसा विचार कर उसने मछली को प्रथक् रख दिया। कुछ देर के पश्चात् गुरु से उसकी भेंट हुई। उसने उन्हें वे सब बातें बतलाई जो उसने उस मछली के शरीर पर देखी थी। आगासीज ने उन्हें श्रवण कर कहा—"कुछ दिन तक इसका अवलोकन पुनः करो, अभी तुम इसकी साधारण बातें भी नहीं जान पाये हो।" यह कह कर वह चला गया।

विद्यार्थी गुरु की इस बात से बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह मन ही मन कहने लगा—"मछली तो एक साधारण जानवर है, जिसे मैं प्रति दिन देखता हूँ। मैं क्या, कोई बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी इन बातों से (जिन्हें मैंने लिखा है) अधिक नहीं जान सकता? क्या कभी दैनिक व्यवहृत वस्तुएँ भी प्रत्यवेक्ष्य हुई हैं? उनके विषय में तो साधारण बालक भी पर्याप्त जानता है। प्रोफेसर पागल ज्ञात होता है, अन्यथा वह मुझे ऐसे कामों में कभी प्रयुक्त न करता। इसके पास रहना निरी मूर्खता है। यदि वह सूज्ञ होता तो अध्ययन के लिये मुझे कोई पुस्तक देता या निजी प्रयोग-शाला में कोई प्रयोग करवाता। किन्तु एक मछली के ही प्रत्यवेक्षण में वह मेरा जीवन व्यर्थ नष्ट करना चाहता है..........।"

इस प्रकार के अनेक तर्क-वितर्क उस के मन में उठने लगे। थोड़ी देर बाद उसका क्रोध शान्त हुआ। वह बड़ी दूर से आया था, इसी कारण इतनी जल्दी (वह) लौट नहीं सका। प्रोफेसर बड़ा प्रसिद्ध वैज्ञानिक था, चारों ओर उसकी प्रशंसा होती थी। इन्हीं कारणों से उसने पुनः प्रत्यवेक्षण कर अपने गुरू को प्रसन्न करना चाहा।

वह उस मछली के शरीर को तीन दिनों तक बड़े ध्यान-पूर्वक देखता रहा। इस बार उसे कई नवीन बातें मालूम हुईं। अपनी सफलता पर वह फूला न समाया। वह सोचने लगा कि गुरू अब की बार मेरी बुद्धि की प्रशंसा करेंगे। किन्तु जब वह उनके

पास गया तो उन्होंने इसकी लिखी हुई बातों को पढ़कर कहा—"भद्र ! इस मछली के विषय में तुम्हें अभी कई बातें और जानने की हैं। जाओ, धैर्य रखो, और शान्त चित्त से ध्यान-पूर्वक इसका अन्वक्षण पुनः करो ?"

इस समय उसे फिर क्षोभ हुआ, पर अबकी बार उसका उद्वेग शीघ्र ही शान्त हो गया। अब वह अन्वक्षण के महत्त्व को समझने लग गया था। इस बार उसने कई दिनों तक उस मछली का अन्ववेक्षण किया और कई ऐसी सूक्ष्म बातें ढूँढ निकालीं जिन्हें वह पहले सामने होते हुए भी नहीं देखता था।

अपने विस्तृत ज्ञान को देख कभी २ वह बड़ा प्रसन्न होता। कुछ दिनों के पश्चात् उसकी गणना भी वैज्ञानिकों में होने लगी। किन्तु वह आ-जीवन गुरु आगासीज़ का कृतज्ञ रहा। उसने कई बार अपने व्याख्यानों में कहा कि मेरी सफलता का मुख्य कारण अध्यवसाय पूर्वक प्रत्यवेक्षण है, जिसे मैंने अपने आचार्य आगासीज़ से सीखा है।

विज्ञान की नई २ खोजें प्रत्यवेक्षण पर ही निर्भर हैं। इसी तत्त्व को प्रकट करने के लिए उपर्युक्त दृष्टान्त है। हमारा भाव यह नहीं कि विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी उक्त विद्यार्थी के सदृश एक मछली लेकर उसका अन्वक्षण करने लगे, आदर्श की भिन्नता से प्रत्यवेक्ष्य भिन्न २ होते हैं। उदाहरण के हेतु को समझकर अपने २ क्षेत्र में उसका अनुकरण करना चाहिए।

किसी पदार्थ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान और समान पदार्थों में भेद जानना गंभीर-प्रत्यवेक्षण का मुख्य प्रयोजन है। प्रत्येक समय इन दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। यदि प्रारंभ में एक-दो बार असफलता का सामना करना पड़े तो निराश नहीं होना चाहिए। अदम्य उत्साह और अनथक परिश्रम के साथ जो कार्य्य-क्षेत्र में उतरते हैं उन्हें ही सफलता मिलती है। क्योंकि इस प्रत्यवेक्षण में विशद ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई हँसी-खेल नहीं है।

इस सिद्धांत को सत्य समझिए कि संसार की कोई भी दो वस्तुएँ सर्वांश में समान नहीं होतीं। प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्त्व पृथक बनाये रखने के लिए सजातीय वस्तु से भी कुछ अंश में भिन्नता रखती है। हाँ, यह भेद न्यूनाधिक अवश्य होता है। वैज्ञानिक लोग इस सिद्धान्त द्वारा आश्चर्य्य-जनक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

यदि मैं आप में से किसी को रंग के प्रकार पूछूँ तो मुझे विश्वास है कि उत्तर में आप १०-१५ या बीस भेद ही बत-लायँगे; इससे अधिक नहीं। परन्तु डाक्टर हॅरोल्ड महोदय रंग के बीस-लाख भेद जानते थे। उन्हें इन सब रंगों के नाम बराबर स्मरण थे और वे प्रत्येक को बड़ी आसानी से पहचान जाते थे। इनमें से (१०००००) एक लाख प्रकार के मूल रंग थे और प्रत्येक के वे बीस-बीस मिश्रण बनाते थे।

वैज्ञानिकों के सिवा भी कई व्यवसायी लोग इस कार्य में दक्ष होते हैं। क्योंकि व्यवसाय में सफलता इसी शक्ति की उन्नति पर निर्भर है। कसाई बकरे को देखकर ही उसके माँस का वजन और प्रकार बतला सकता है। किसान परिपक्व खेत को ही देखकर उसके धान का अनुमान करलेता है और उसका यह अनुमान क़रीब २ सत्य ही निकलता है। मल्लाह दूर से ही जहाज को पहचान जाता है जब कि साधारण लोगों को वह धुँधला-सा ही दिखाई देता है। इतना ही नहीं किन्तु कोई २ मल्लाह तो जहाज की दूरी और वजन तक भी बतला देते हैं। ऐसी सिद्धियाँ प्रयत्न से सभी इन्द्रियों के कार्य्यों में मिल सकती है।

परीक्षणात्मक-प्रत्यवेक्षण।

वर्षा-ऋतु है। आकाश में मेघ एकत्रित होकर बरस रहे हैं। यह कार्य प्रकृति अपने-आप करती है; इसमें किसी मनुष्य का हाथ नहीं। ऐसे कार्यों का अन्वक्षण साधारण प्रत्यवेक्षण कहा जाता है। किन्तु हमने वरुण और मित्र (व+मि २ के अनुपात से) वायुओं को मिलाकर विद्युत्-प्रवाह द्वारा एक रसायन उत्पन्न किया। इसकी उत्पत्ति हमने अपनी इच्छा से की; अतः इस जल का अन्ववेक्षण परीक्षणात्मक प्रत्यवेक्षण कहा जाता है। अर्थात् कृत्रिम कार्यों का अन्वक्षण परीक्षणात्मक और प्राकृत कार्यों का अन्वक्षण साधारण प्रत्यवेक्षण कहा जाता है।

विज्ञान में परीक्षणात्मक-प्रत्यवेक्षण का महत्त्व विशेष है। अधिकाँश आविष्कार इसी के परिणाम स्वरूप में प्राप्त हुए हैं। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे केवल पुस्तकों या उपदेशों पर ही श्रद्धा न रखें अपितु स्वयं पदार्थ और नियमों की वास्तविकता का निर्णय परीक्षा द्वारा करें। जिन्हें विज्ञान में प्रगति करना है उन्हें चाहिए कि वे अब परीक्षा के अविषयों का पीछा न पकड़े। धर्म के ठेकेदारों द्वारा प्रचारित स्वर्ग और नरक, बहिश्त और दोज़ख, यमराज और भयावह यमदूत, देव और राक्षस आदि की निरी कल्पनाओं के भरोसे रहकर दिवानें न बनें—हाथ पर हाथ रखे बैठकर इनकी गाथाओं के मानसिक पुलावे न खींचा करें। जिन वस्तुओं की परीक्षा की जासके, जहाँ स्वतन्त्र विचार और निजी अनुभव को स्थान हो; उसी ओर अपनी शक्तियों का सद्व्यय करना सीखें।

कई लोग परीक्षा और प्रत्यवेक्षण के समझने में बड़ी गड़-बड़ कर देते हैं। यहाँ यह भेद स्पष्ट कर देना आवश्यक समझा जाता है। ज्ञात वस्तु की जाँच के लिये परीक्षा और अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रत्यवेक्षण होता है।

एक पदार्थ में दो या दो से अधिक ज्ञान (या अनिश्चित ज्ञान) का होना संशय का हेतु है। इस संशय को दूर करने के लिये परीक्षा की जाती है। परीक्षा में परीक्षक को परीक्षा-फल का ज्ञान न्यूनाधिक अँश में पहले से ज्ञात रहता है।

परन्तु प्रत्यवेक्षक को प्रत्यवेक्षण-फल का ज्ञान पहले से नहीं होता। वह प्रत्यवेक्षण द्वारा ज्ञान संपादन करता है। पहले की अपेक्षा दूसरा (प्रत्यवेक्षण) कठिन पर अधिक लाभदायी है।

परीक्षणात्मक-प्रत्यवेक्षण करते समय अपने पास नोट-बुक अवश्य रखो। प्रथम सब कारणों को लिखलो। अनुभूत ज्ञान की सहायता से परिमार्जित अनुमान द्वारा प्रयोग प्रारम्भ करो। जो कुछ परिणाम प्राप्त हो उसे भी लिखलो। इसके द्वारा आपको यह ज्ञात हो जायगा कि अमुक कारणों से अमुक कार्य उत्पन्न किया जा सकता है। कारण और कार्य के ज्ञान से नियमों को जान लेना बहुत सरल है। इस प्रकार जो निश्कर्ष निकले उसकी दो-तीन बार पुनः परीक्षा की जानी चाहिये ताकि संशय न रहे।

प्रत्यवेक्षण करते समय निम्नांकित बातों का ध्यान रखना चाहिये—

(१) रुचि—यह बात प्रायः हम सभी जानते हैं कि रुच्यनुकूल पदार्थ की ओर मनुष्य अधिक कार्य कर सकता है। जो पदार्थ रुचिकर नहीं होता उस ओर कुछ समय तक ही परिश्रम करना दुस्सह हो जाता है। अतः जिस पदार्थ का हमें प्रत्यवेक्षण करना है, उसे रुचिकर बनाना चाहिये। जो पदार्थ रुचिकर नहीं हैं उसका सम्बन्ध रुचिकर पदार्थों से ढूँढ़ना चाहिये। इस से उन पदार्थों में भी रुचि बढ़ने लगती है।

(२) **ध्यान**–प्रत्यवेक्षण-क्रिया का प्राण ध्यान है। जैसे बिना प्राण के जीवन सम्भव नहीं, वैसे-ही बिना ध्यान के प्रत्यवेक्षण असम्भव है। इसका साफल्य ध्यान पर ही अवलम्बित है। इस सम्बन्ध में पहले बहुत कुछ लिखा जा चुका है; उससे अधिक लिखना यहाँ आवश्यक नहीं।

(३) **ध्येय–**कई मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखते और सुनते हुए भी नहीं सुनते। आप यह पढ़कर चकित हो जायँगे। किन्तु यह बात यथार्थ में सत्य है। आपने इस पुस्तक को प्रारंभ से ध्यान-पूर्वक पढ़ी है। भलाँ बतलाइये कि उसमें 'क' शब्द कितनी बार आया है। संपूर्ण पुस्तक की तो बात अलग है पर आप एक ही पृष्ट का उत्तर नहीं दे सकते। प्रत्युत यही कहेंगे–"इस पुस्तक को पढ़ते समय हमारा उद्देश्य 'क' को देखने का नहीं रहा है। इसी कारण हम उसका उत्तर नहीं दे सकते।" जब आप इस बात को ध्यान में रख कर पढ़ेंगे, पृष्ठ में जितने 'क' आयँगे उनकी गणना करेंगे; पश्चात् इसका उत्तर देने में समर्थ हो सकेंगे। अर्थात् पढ़ते हुए भी मनुष्य वही ध्याग में रखता है जो उसका ध्येय होता है। इसी प्रकार के अनेक दृष्टान्त आपको मिल सकते हैं और आप ध्येय के महत्त्व को जान सकते हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार प्रत्यवेक्षण के दो उपभेद किये जाते हैं–प्रथम **स-ध्येय** और द्वितीय **वि-ध्येय**। यदि आपने बिना ध्येय के कार्य प्रारंभ किया तो प्रत्यवेक्षण के वास्तविक

सिद्धांत से आपकी गति कोसों दूर होगी। प्रथम तो परिश्रम के अनुपात से ज्ञान-राशि बहुत कम होगी; फिर भी प्राप्त ज्ञान केवल भार रूप ही होगा।

यदि मानव-जीवन का कोई उद्देश्य न होता; यदि संसार में हमारे लिए कोई आवश्यकता न होती तब तो निःसन्देह हम ध्येय रहित कार्य करने के योग्य होते। परन्तु यहाँ हमारी स्थिति कुछ और ही है। हमारे जीवन का उद्देश्य है, हमारी भूरी इच्छाएँ और अनेक आवश्यकताएँ हैं; जिनकी पूर्ति के लिए हमारी शक्ति का उपयोग होता है। इनमें सफलता न मिलने पर हम बड़े दुःखी होते हैं।

वर्त्तमान समय में एक ही विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना मानवीय शक्ति से परे की बात समझ पड़ती है। पुनः बिना किसी ध्येय के संसार के समस्त पदार्थों की ओर अपनी शक्तियों का व्यय करना निरी मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जा सकता है। यदि कोई मनुष्य चले पर वह यह न निश्चित करे कि मुझे कहाँ जाना है तो क्या कभी ऐसा मनुष्य उपयोगी स्थान को पहुँच सकेगा? क्या कभी ऐसी निरुद्देश्य चाल से वह अपना कल्याण कर सकता है? प्रिय भाइयो! इसका विचार आप स्वयं कीजिए और अपनी आत्मा से इसका उत्तर पूछिए?

(४) **चिंतन**—प्रत्यवेक्षण द्वारा प्राप्त विचारों का मनन करना चाहिये। चिंतन में कल्पनाएँ स्पष्ट एवं ग्राह्य होनी

चाहिये। भाव-रहित कल्पनाएँ घात करनेवाली होती हैं। साधारण कोटि के लोग प्रायः ऐसी कल्पनाओं का उपयोग किया करते हैं किन्तु उनसे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। जिन कल्पनाओं में स्पष्टता नहीं, जिनके भाव हमारी समझ में न आवें; ऐसी कल्पनाओं से भलाँ क्या लाभ हो सकता है ? इसी कारण कहा है: "भाव-पूर्ण कल्पना में जादू है ?"

इन्हीं कल्पनाओं की स्पष्टता पर हमारा ज्ञान-गाम्भीर्य निर्भर है। जिस विषय की कल्पना अस्पष्ट है; समझलो कि उस विषय में हमारा ज्ञान संकुचित है। अतः उस पदार्थ का प्रत्यवेक्षण तब तक जारी रखो जब-तक उसकी कल्पनाएँ स्पष्ट रूप से न होने लगे।

आज जिन्हें हम दिग्गज विद्वान कहते हैं, आज जिनके ज्ञान-भण्डार को देखकर हम दाँतों तले ऊँगली दबाते हैं, आज जो एडीसन सदृश भीम मस्तिष्क वाले कहे जाते हैं, वे सब इसी मार्ग द्वारा उन्नत हुए हैं। उनमें और हम में केवल यही भेद है कि उनकी कल्पनाएँ भाव सहित होने के कारण जीवित और ओज-पूर्ण होती हैं; और हम अपनी कल्पना-शक्ति से परिचिति नहीं होते, इस कारण दुरुपयोग से उसे निर्जीव बना देते हैं। एकान्त महल में बैठकर भी चिंतन से कोई लाभ नहीं यदि कल्पनाएँ अस्पष्ट और भाव रहित हैं। उनकी स्पष्टता से वे हृदयङ्गम होती हैं और ऐसी ही कल्पनाएँ जीवन में क्रान्ति उत्पन्न करती हैं।

भारत में हज़ारों वर्षों तक मन्त्र-शास्त्र का प्राबल्य रहा। स्वार्थी ब्राह्मणों ने वेदों के गाम्भीर्य को न समझकर अपनी आयु उनके कंठस्थ करने में ही व्यतीत की। मन्त्र की मन गढ़न्त शक्तियों का परिचय देकर उन्होंने भोली जनता का द्रव्य हड़प किया; और काल्पनिक गाथाएँ बनाकर जनता को सत्य से वंचित रखा। यह सब मध्य-युग का अज्ञान था। मंत्र की शक्ति को मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ; परन्तु वह शक्ति मंत्रों के शब्दों में नहीं, वह उनके भावों में भरी हुई है; जिन्हें वेदों को अपनी बपौती समझने वाले लोलुप ब्राह्मणों ने नहीं समझा। इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए स्वयं वेद ने एक स्थान पर कहा है— 'यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति' (यजु) अर्थात् जो भाव को नहीं समझता वह ऋचा से क्या करेगा। ऋचाओं को कंठस्थ करने की अपेक्षा यदि उनके भावों को समझने की ओर आधा भी परिश्रम किया जाता तो निस्सन्देह भारत आज इतना नत-मस्तक न होता।

(५) **परिणाम**—प्रत्यवेक्षण करते समय प्रत्यवेक्ष्य को कई भागों में विभक्त करना चाहिए। पहले सम्पूर्ण पदार्थ का और पुनः उसके प्रत्येक भाग का प्रत्यवेक्षण किया जाना चाहिये। उसके गुण, लक्षण, आकार, प्रकार, उपयोगिता, कारण, कार्य, गति, रूप, रंग, सम्बन्ध, नियमादि बातों को ध्यान-पूर्वक देखनी चाहिए। ऐसे कार्यों में शीघ्रता करनी अच्छी नहीं। आलस्य को छोड़कर उचित समय लेना चाहिये। प्रत्य-

वेक्षण द्वारा जो कुछ ज्ञान प्राप्त हो उसे नोट-बुक में लिख लिया जाय। नोट-बुक रखना बड़ा उपयोगी है। इससे स्मृति को बड़ी सहायता मिलती है।

कल्पना कीजिये, आपका प्रत्यवेक्ष्य एक बालक है। आप उसका प्रत्यवेक्षण करना चाहते हैं। पहले उसके समस्त शरीर का अवलोकन कीजिए। उसकी ऊँचाई, वस्त्र, देश, वय, विद्या, बुद्धि, माता-पिता, पाठशाला आदि का विचार कीजिए; उसके सम-आयु वाले अन्य बालकों से उसमें क्या २ विशेषताएँ हैं; उसके मुख की आकृति, नाक, कान, मुँह, आँख, रूप, रंग, चाल, स्वर, बोलने की शैली, व्यवहार, रुचि-विशेष आदि को ध्यान-पूर्वक देखिए। प्रत्यवेक्षण करते समय उसमें किसी विशेषता का पता लगाने के लिए अवश्य ध्यान रखिए। इस प्रकार के अवलोकन से आप उस बालक के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें जानेंगे जिन्हें अन्य पुरुष देखते हुए भी नहीं देखते हैं।

(६) मिश्र—किसी वस्तु का ज्ञान एक ही इन्द्रिय द्वारा मत करो। यदि सम्भव हो तो सभी इन्द्रियों से उसका अनुभव करो। उसे देखो, सुनो, चखो, सूँघो और स्पर्श करो। यह कोई नियम नहीं कि प्रत्येक पदार्थ सभी इन्द्रियों से जाने जायँ; अतः जितनी इन्द्रियों का उपयोग हो सके उतना करें और जिसका वह विषय न हो उसे छोड़दें।

ऐसा करने से उस पदार्थ का भिन्न-भिन्न इन्द्रियों पर परिणाम का बोध होगा और स्मृति भी तीव्र होगी। रटन-विद्या

द्वारा स्मृति पर जो बोझ लादा जा रहा है, वह कई अंशों में न्यून होगा और अनुभव भी बढ़ेगा।

(७) अभ्यास—सम्भव है एक बार के अवलोकन से आपको किसी विशेषता का ज्ञान न हो। पर ऐसी अवस्था में निराश होने की कोई बात नहीं। आज जिन्हें हम विज्ञान की उपज कहते हैं, वे एक दिन के अन्वेक्षण का परिणाम नहीं। जिस मोटरगाड़ी को आज हम साधारण समझ रहे हैं वह कई दिनों के सतत्-प्रत्यवेक्षण का फल है। जो हमारे अन्दर है, वही हम बाहर देखते हैं; इस सिद्धांतानुसार एक दो बार के देखने से किसी नूतनता का पता नहीं लगता। कभी मत सोचिये कि जिस वस्तु को हम कई बार देख चुके हैं, उसके प्रत्यवेक्षण की अब आवश्यकता नहीं। प्रत्येक वस्तु कई विशेषताओं के साथ इस जगत् में उत्पन्न हुई है। उनके संबन्ध में कई वैज्ञानिकों ने खोज की पर अभी-तक किसी भी वस्तु का पूर्ण ज्ञान उन्हें नहीं हो पाया है। ज्ञान का समुद्र अथाह है। अभी हम उसके ऊपरी तह तक ही पहुँचे हैं। अन्दर के गम्भीर्य्य का अभी हमें पता नहीं। वर्तमान में जो कुछ प्राप्त हुआ है उसने उज्ज्वल भविष्य का बड़ा आश्वासन दिया है। हम भविष्य में क्या होंगे—हमारी शक्ति की पराकाष्टा कहाँ तक होगी—इसके अनुमान ने ही वैज्ञानिकों को पागल बना दिया है। वे खोज की धुन में ही दीवाने हो रहे हैं। अनथक परिश्रम ही उनका एक मात्र ध्येय है। साधारण-से-साधारण

वस्तुओं की भी अब परीक्षा होने लगी है। वह भी एक बार नहीं—अनेक बार। इसी कारण प्रकृति देवी अब मुग्ध होकर इनके सम्मुख पतिव्रता स्त्री के सदृश अपना अङ्ग खोलने लगी है। प्यारे भाइयो! भारत के नवयुवको! स्मरण रखिये यह जनक का धनुष नहीं, जो सीता को रिझाने के लिये एक बार टूटा था। यह प्राणों की बाजी है, आजीवन का प्रश्न है। कहीं ऐसा न हो कि आप भूत के ही भाट बने रहें। अतीत की प्रशंसा से अब हमारा गौरव न होगा, वैदिक काल के कुबेरों से आधुनिक भारत की निर्धनता दूर नहीं होगी, ऋषियों की सिद्धियों से अब यह गुलामी न जायगी, रामायण के संजीवन से मूर्छित भारत में होश न आयगा, नन्दन-वन की कथा से उजड़ा हुआ देश हरा-भरा न होगा, गौतम और कणाद के नाम से विज्ञान प्राप्त न होगा? अब तो एक मात्र औषध हमारे लिये है और वह है—सतत्-पुरुषार्थ-अध्यवसाय।

(८) **नाम**—प्रत्येक वस्तु का भाव उसके नाम से प्रकट किया जाता है। जिस वस्तु का नाम हमें स्मरण नहीं उसके भावों को व्यक्त करना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। जैसे यह सिद्धान्त वार्तालाप में दृष्टिगोचर होता है वैसे ही इसका उपयोग चिंतन में भी होता है। जिस वस्तु का नाम हमें ज्ञात नहीं उसकी स्मृति भी नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु की प्रत्यभिज्ञा के लिए किसी न किसी शब्द की आवश्यकता अवश्य होती है। जिस विषय में जिसका ज्ञान जितना विस्तृत

होगा उसे उस विषय के उतने ही अधिक नाम स्मरण होंगे। ये नाम उस विषय की वस्तुएँ, उनके गुण-धर्म-क्रिया तथा पारस्परिक संबंध के होते हैं।

नाम अन्तर्जगत् की ईंट-पत्थर हैं। घर के बनाने में जो महत्व ईंट आदिकों का है वही महत्व अन्तर्जगत् में नामों का है। जिस विषय के संबंध में जिस व्यक्ति को जितने कम नाम ज्ञात होंगे, उसमें उसका ज्ञान उतना ही परिमित होगा। ऐसा मनुष्य न अधिक जानता है और न जाने हुए को औरों के सम्मुख प्रकट ही कर सकता है। तात्पर्य यह कि हमारे विचार, वक्तृता और ज्ञान इन नामों के ऊपर आश्रित हैं।

यह हमारा दैनिक अनुभव है कि मूर्ख की अपेक्षा विद्वान पुरुष अनेक नाम जानता है। विद्वान पुरुष जितने शब्दों का प्रयोग करना जानता है उतना मूर्ख नहीं। अतः जिस व्यक्ति में शब्दों का बाहुल्य नहीं, उसके भावों और विचारों में संकीर्णता का होना स्वाभाविक ही है। योरोप में साहित्यालोचकों ने बड़े २ कवियों, लेखकों और वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की गिनती तक कर डाली है और इससे वे उनके पाण्डित्य की थाह लेते हैं। इस कारण प्रत्येक उन्नति-शील मनुष्य को अपने विषय सम्बन्धी शब्द-भंडार को बढ़ाना चाहिये।

(९) **समय**—अखिल विश्व में प्रत्यवेक्ष्य वस्तुएँ अनन्त हैं। सहस्रों वर्षों से विद्वानों ने प्रकृति के पार पाने की चेष्टा

की पर सभी ने एक स्वर से 'अथाह' और 'अनन्त' शब्दों द्वारा ही इसका उल्लेख किया है। आगे की तो कौन कहे किन्तु जिस पृथ्वी पर इन्हें रहते २ सहस्रों वर्ष व्यतीत हो गये हैं, वह भी अभी-तक पूर्णतः ज्ञात नहीं हुई। बेचारे मनुष्य की शक्तियाँ अत्यन्त सीमित हैं, समय भी इसे बहुत थोड़ा है, ऐसी हालत में यदि वह अपने सतदुद्योग द्वारा वर्त्तमान परिस्थिति से कुछ आगे बढ़ जाय; तो यही उसके लिये बहुत है।

हमें यहाँ बहुत विचार कर कार्य करना है। कहीं ऐसा न हो कि हमारी तैय्यारी भी न हो पाए और यमराज की अलार्म-बेल बज उठे! इस कारण अब हमें आगामी कल के उपासक न बनकर आज के भक्त बनना चाहिये और 'ब्राह्मण' के इस पुनीत उपदेश का बार-बार मनन करना चाहिये—'न श्वः श्वमुपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।' (शत.२-१-३-९) अर्थात् कल करूँगा, कल किया जायगा, ऐसा मत कहो। कौन जानता है कि कल की बात क्या है। निस्सन्देह अभ्युदय के कार्य कल पर छोड़ना पाप है।

कई मनुष्य प्रत्यवेक्षण अच्छी प्रकार कर सकेत हैं परन्तु उन्हें सफलता न मिलने का मुख्य कारण यही होता है कि वे अपना कार्य्य समय पर नहीं करते। ट्रेन निकल जाने पर यात्री का स्टेशन पर पहुँचना व्यर्थ है। इसी प्रकार कई मनुष्य उचित समय पर इस प्रत्यवेक्षण की ओर ध्यान नहीं

देते। साधारण प्रत्यवेक्षण में इस बात की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। यह कोई परीक्षणात्मक प्रत्यवेक्षण नहीं कि आप जब चाहें तब इसे उत्पन्न करलें। यह तो प्रकृति की उत्पन्न की हुई घटना का विचार है। वह होकर अपने समय पर नष्ट हो जायगी। चाहे आप उसे देखें या न देखें। प्रकृति आप के लिये न ठहरेगी; वह आपका मुलाहजा न करेगी। इसे तो उसके समय पर ही पकड़ना होगा अन्यथा किसी लाभ की आशा रखना वृथा है।

प्रत्यवेक्षण के सम्बन्ध में आवश्यक बातों का विचार हो चुका है। यदि पाठक-वृन्द इसके गूढ़ रहस्य को समझकर इसे क्रियान्वित करेंगे तो उन्हें अवश्य ही लाभ होगा, इसमें सन्देह नहीं। संसार के बड़े से बड़े प्रत्यवेक्षक में जो शक्तियां होनी चाहिएँ वे सब आप में विद्यमान हैं। आवश्यकता केवल इसी बात की है कि आप उनका उचित समय पर सदुपयोग करना सीखें।

जैसे प्रेमिका अपने प्रियतम के लिए व्याकुल रहती है वैसे ही अपने आदर्श के लिए आपको व्याकुल होना चाहिए। प्रत्यवेक्षण द्वारा आप जो कुछ भी प्राप्त करें उसे नोट-बुक में लिख लिया करें। समय २ पर यह लिखा हुआ पढ़ा जाना चाहिए। इस पुनरावृत्ति के साथ उनका चिंतन और सत्यासत्य का विचार भी करना चाहिये। प्रत्यक्षानुभव द्वारा उनकी परीक्षा की जानी चाहिये और आवश्यक संशोधन के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये।

तीसरा अध्याय

बोध

मेधा मन की वह शक्ति है, जिसके द्वारा कल्पनाओं का ज्ञान ग्रहण किया जाता है। मानस-पटल पर आये हुए संवितों को ग्रहण करके उन्हें संस्कार रूप में परिणत करने का कार्य इसी मेधा-शक्ति का है। इसके दो कार्य हैं-एक बोध और दूसरा अन्तर्बोध। प्राचीन शास्त्रों में बोध को अनुभव, ज्ञान, प्रत्यय, उपलब्धि और पराक्-ज्ञान भी कहते हैं। इस अध्याय में हमें इसी का विचार करना है। अन्तर्बोध का वर्णन अगले अध्याय में होगा।

बोध के दो प्रकार हैं। (१) एक वस्तु का दूसरी वस्तु से कितना भेद और कितनी समता है-इसे तारतम्य बोध कहते हैं; और (२) किसी वस्तु के सूक्ष्म ज्ञान को प्राप्त करना, इसे प्रत्याहरण-बोध कहते हैं। तारतम्य-बोध में दो या दो से अधिक पदार्थों में तुलनात्मक विचार किया जाता है, और प्रत्याहरण-बोध में पदार्थ के लक्षण, आकार-प्रकारादि का ज्ञान संग्रह किया जाता है। इन विविध बोधों को समझने के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिये जाते हैं:——

वृक्ष से फल गिरता है। यहाँ पतन-क्रिया का अनुभव बोध और पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का ज्ञान, जो न्यूटन को

हुआ था, अन्तर्बोध है। हमारे सम्मुख दो पदार्थ रखे हैं–एक शक्कर और दूसरा नमक। श्वेत रंग में दोनों समान हैं परन्तु एक मीठा और दूसरा लवण है–इस प्रकार समता और विभिन्नता का ज्ञान 'तारतम्य बोध' है। शक्कर मीठी होती है, चूर्ण होने के कारण वह जल में शीघ्र घुल जाती है, उसके मिला देने से भोजन स्वादिष्ट बन जाता है और उचित मात्रा में खाने से वह स्वास्थ्य को बढ़ाने वाली होती है–इस प्रकार का ज्ञान 'प्रत्याहरण बोध' है।

प्रत्यय और गुण एक नहीं, ये दोनों भिन्न २ हैं। पहला चित्तगत और दूसरा बाह्यवस्तु-गत है। प्रत्यय बाह्य वस्तु के गुणों का होता है, परन्तु कभी २ बाह्य-वस्तु के संसर्ग से शरीर में एक विशेष परिणाम होता है; इसका अनुभव भी हमें उस वस्तु के गुणों के साथ-साथ होता है। मान लीजिए, मैं एक तप्त लोहे का स्पर्श कर रहा हूँ। लोहे में स्थित उष्णता का बोध मुझे हो रहा है। वरन् उस उष्णता की अधिकता के कारण जो दुःख का अनुभव हो रहा है वह उस लोहे में नहीं प्रत्युत वह उष्णता का शरीर पर परिणाम का बोध है।

बोध संचित-ज्ञान के आश्रित है। जिस विषय के संस्कार हमारे मन पर पहले से स्थित हैं, उसके या तत्सम्बन्धित अन्य विषय का बोध हमें हो सकता है; अन्य का नहीं। जो विषय

हमारे लिये बिलकुल नया है उसके लिए या तो हमें मन पर विपुल संस्कार डालना चाहिए या उसका संबंध संचित संस्कारों से ढूँढ़ना चाहिए; तभी बोध संभव है, अन्यथा नहीं। कोई मनुष्य संस्कृत का चाहे कितना ही विद्वान क्यों न हो पर अपनी पण्डिताई से वह आँग्ल-भाषा को न समझ सकेगा। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह या तो बालक के सदृश किसी आँग्ल-कुटुम्ब में रह कर उस भाषा के संस्कार बढ़ाय या संस्कृत और आँग्ल का सम्बन्ध जानने का यत्न करे, जैसे कि पाठशालाओं में विद्यार्थी-गण शिक्षण पाते हैं।

कुछ लोग कल्पना और बोध में अभेद मानते हैं। उनका कथन है कि इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से मन पर जो परिणाम होता है वह कल्पना है और वह ही बोध है क्योंकि कल्पना होते ही ज्ञान हो जाता है।

हम इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। जैसे पिघली हुई लख पर लगाई गई मोहर के हट जाने पर भी उसका चिन्ह चपड़ी पर स्थिर रह जाता है, ठीक इसी प्रकार मन में प्रकट हुई कल्पना का भी नाश नहीं होता, किन्तु वह स्थित रहती है—इसे संस्कार कहते हैं। कल्पना और संस्कार में जो सादृश्य होता है उसे ज्ञान कहते हैं। बिना इस सदृशता के ज्ञान का होना असम्भव है।

कल्पना कीजिए कि आपके सम्मुख तीन व्यक्ति खड़े हैं। उनमें एक केवल अँगरेज़ी जानता है, दूसरा केवल हिन्दी और

तीसरा इस दोनों में एक भी नहीं जानता है। आपने इन तीनों व्यक्तियों को सम्बोधित करके कहा—'फूल'। पहला मनुष्य समझेगा कि मूर्ख कह कर मेरा अपमान किया गया है। दूसरा समझेगा कि मुझे पुष्प के विषय में कुछ सङ्केत किया गया है और तीसरा केवल शब्द ही सुनता है—उसे किसी बात का ज्ञान नहीं होता। अब आप को यह स्पष्ट होगया होगा कि ज्ञान सञ्चित संस्कारों से होता है—कल्पना-मात्र से नहीं।

संस्कारों की विपुलता से समय, श्रम, ध्यान और इन्द्रिय-दोषों को दूर करने की आवश्यकता कम होकर मेधा अपने कार्य में दक्षता प्राप्त करती है। यह हमारा दैनिक अनुभव है कि जिन्हें जिस काम का अभ्यास हो चुका है वे कम समय में अधिक कार्य कर सकते हैं। प्रारम्भिक लेखक जिस कार्य को बड़े ध्यान से करते हैं उसे प्रतिदिन के अभ्यासी लेखक बड़ी सरलता पूर्वक करते हैं और उसके साथ-साथ अपने साथियों से बातें भी करते जाते हैं। कई बहरे मनुष्य ऐसे पाये गये हैं जो समीप की बातों को नही सुन सकते पर उससे कुछ दूर पर की गई अपनी बुराई को सुन लेते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि संस्कारों की अधिकता से इन्द्रिय-दोष को भी बहुत सहायता मिलती है।

अच्छा गायक बजाने वाले की जरासी गलती तुरन्त ताड़ जाता है, परन्तु इतर श्रोता-गण इसका अनुभव नहीं कर सकते। माता अनेक बच्चों में से अपने बच्चे के एक-दो शब्दों

को ही सुनकर उसे पहचान जाती है। टेलीग्राफिस्ट लोग भिन्न २ टेलीग्राफिस्टों के यन्त्र को उपयोग करने की शैली में भेद बतला सकते हैं। कुछ दिन के अभ्यास से वे केवल यन्त्र के शब्दों को सुनकर यन्त्र-प्रेरक तक का नाम (उसे बिना देखे) बतला देते हैं। इँजीनियर केवल अपनी मशीन के चलने की आवाज़ को सुनकर ही यह बतला सकता है कि इंजिन के अमुक स्थान पर खराबी है। बोध में मेधा का यह सब कौशल संस्कारों की विपुलता पर ही निर्भर है।

बोध होना बाल्यावस्था से ही प्रारंभ हो जाता है। लॉक आदि दार्शनिकों का तो यहाँ तक मत है कि कई प्रकार के बोध गर्भावस्था में भी होने लगते हैं। बोध संस्कारों से होता है, यह सिद्धान्त है। अतः सिद्ध होता है कि संसार की वस्तुओं का बोध प्रारंभ होने के पहले ही बालक के पास अपनी निजी सम्पत्ति होती है अन्यथा वह बोध प्राप्त न कर सकेगा। दार्शनिकों में यहाँ मत भेद है। पाश्चात्य दार्शनिकों का मत है कि संचित संस्कार माता-पिता से बालक को प्राप्त होते हैं; जिन्हें वे पैतृक-संस्कार कहते हैं। भारतीय ऋषियों का सिद्धान्त है कि ये संस्कार बालक में पूर्व जन्म से आते हैं। विषयान्तर हो जाने के भय से हम इस विषय को यहीं छोड़ देते हैं।

योरोप में एक प्रकार के दार्शनिक और भी हैं। उनका कथन है कि सब मनुष्य पूर्ण स्मृति से उत्पन्न होते हैं। हम कोई भी ज्ञान नया प्राप्त नहीं करते। सभी वस्तुएँ हमें ज्ञात हैं।

शिक्षा द्वारा हम इस ज्ञान को केवल जागृत करते हैं। इस सिद्धान्त के मतानुयायी एक प्रोफेसर लिखते हैं—

" In fact, the memory furnishes everything that you need. There is nothing lacking. We are born with perfect memory.

" Memory knows no time or space. Then if we have already in our minds all of the knowledge recorded that the world has ever had, we would like to know how to become conscious of it.

" Education is not a process of acquiring knowledge of something outside of ourselves, it is simply getting acquainted with what we already know. If we could come into conscious possession of all that the memory holds we would have a knowledge of all that man has ever done and all that can be done.

" If trusted, the memory will furnish the knowledge upon which we may depend for the accomplishments of life, in whatever department we choose to work."

(See the article on 'studies in psychology' by prof. IVI in The Kalpaka of dec. 26).

अर्थात्–" वस्तुतः, स्मृति सब आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है। उसमें किसी बात की कमी नहीं है। हम पूर्ण स्मृति से उत्पन्न होते हैं।

" स्मृति के लिये समय और स्थान का प्रतिबन्ध नहीं है। यदि हमारे पास वे सब ज्ञान, जो इस संसार के मनुष्यों को हो सकते हैं, पहले से विद्यमान हैं; तो उनसे परिचित हो जाने के लिए हम अत्यन्त उत्सुक होंगे।

" हमारी स्मृति से परे किसी नये ज्ञान को प्राप्त करने का नाम शिक्षा नहीं है; किन्तु जो हमारे पास पहले से विद्यमान है, उससे परिचित हो जाने का नाम ही शिक्षा है। यदि स्मृति के समस्त संस्कारों से हम अभिज्ञ हो जायँ तो हमें वे सब बातें ज्ञात हो सकती हैं जिन्हें मनुष्य ने आज-तक प्राप्त की है या भविष्य में कर सकता है।

" यदि विश्वास रखा गया, तो स्मृति जीवन के किसी भी कार्यक्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिये ज्ञान की आवश्यक सहायता दे सकती है।" हमने उन्हीं वाक्यों को उद्धृत किया है जिनसे स्मृति का सम्बन्ध था और अन्य अनावश्यक वाक्य बीच २ में छोड़ दिये हैं।

प्रोफेसर साहब के स्मृति विषयक सिद्धांत मनोविज्ञान के क्षेत्र में एकदम नये हैं। इनके मानने वालों की संख्या भी बहुत कम है। अधिकांश लोग इसी मत के पोषक हैं कि बाह्य वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियों से होता है। हम भी इसी के अनुयायी हैं। यदि सब मनुष्यों की स्मृतियाँ पूर्ण और समान होतीं तो उनकी प्रवृत्तियों और मेधाओं में अभेद होता। किन्तु हम देखते हैं कि एक ही अध्यापक द्वारा पढ़ाये हुए भिन्न-भिन्न

व्यक्तियों में ज्ञान की समानता नहीं होती और न उनकी ज्ञान को ग्रहण करने वाली मेधाएँ ही समान होती हैं। अतः सिद्ध होता है कि मनुष्य पूर्ण स्मृति से उत्पन्न नहीं होता अर्थात् उसे संसार की वस्तुओं का बोध प्राप्त करना पड़ता है। हाँ, कुछ ज्ञान उसमें पहले से रहता है जिसकी सहायता से वह यहाँ की वस्तुओं से परिचित होता जाता है। लीबनीज़ आदि दार्शनिकों का भी यही मत है।

प्रत्यय-प्रयोजक वस्तुएँ बाह्य जगत् में अपना अस्तित्व अवश्य रखती हैं, अन्यथा स्वप्न और वस्तु-ज्ञान में कोई भेद नहीं होता। जो लोग बाह्य वस्तु की सत्ता को अस्वीकार करते हुए यह कहा करते हैं कि ज्ञान तो भ्रम है वे बड़ा अनर्थ फैलाते हैं। यदि बाह्य वस्तु अपनी सत्ता न रखती होती, तो मन के लड्डू और वास्तविक लड्डुओं के आनंद में कोई भेद न होता। कल्पनाओं से पेट नहीं भरता, उसके लिए तो भौतिक भोजन की ही आवश्यकता है। अतः सिद्ध होता है भौतिक जगत् की वस्तुएँ कल्पनाओं से भिन्न हैं और वे अपना अस्तित्व वास्तव में रखती हैं।

बोध के संबंध में एक शंका हो सकती है। वह यह कि जब दृष्टि-पटल समतल है और सब पदार्थों का प्रतिबिम्ब इसी समतल-पटल पर गिरता है तब क्या कारण है कि हमें पदार्थों

की दूरी और गहराई का भी बोध हो जाता है। कल्पना कीजिए कि आपके सामने पृथ्वी का एक गोला रखा है, जो कहीं गहरा और कहीं उठा हुआ है। दृष्टि-पटल पर कोई ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा उसका प्रतिबिम्ब गहराई आदि को लिए हुए प्रकट हो। पुनः हमें वह गोला समतल न दिखाई देता हुआ ऊँचा नीचा अर्थात् अपने वास्तविक रूप में क्यों दिखाई देता है? कुछ वैज्ञानिकों का कथन है कि कोण, गहराई, परिमाण, घनता आदि का बोध वास्तव में त्वगिन्द्रिय का विषय है; नेत्र का नहीं। यह जो हम नेत्र से इनका अनुभव करते हैं उसका मुख्य कारण यह है कि बाल्यावस्था से हम त्वचा और नेत्र का अनुभव साथ २ करते आये हैं। इस कारण इनका अटूट संबंध हो गया है और वे अन्योन्य प्रेरक बन गये हैं। अर्थात् पदार्थ के देखने मात्र से हमें उसकी घनता, लम्बाई-चौड़ाई, ऊँचाई-नीचाई का भी बोध हो जाता है जो वास्तव में त्वचा का विषय है। दूरी का बोध शरीर के अंगों या अन्य किसी साधनों के नापने से होता है।

इस संबंध में प्रो. सुधाकरजी ने स्वकीय पुस्तक 'मनो-विज्ञान' के पृष्ठ संख्या ११४ पर डा. चैसलडन की परीक्षा का वर्णन इस प्रकार लिखा है:—"डाक्टर चैलसडन ने एक जन्मान्ध बालक की आँखों का अपेशन किया था और अपेशन के सफल होने पर उस बालक की आँखें खुल गई और वह

देखने लग गया, परन्तु प्रारंभ में उसे सब दृश्य पदार्थ अपनी आँखों से चपटे हुए प्रतीत होते थे, धीरे २ हाथों की गति तथा स्नायुओं के प्रयोग से उसे पदार्थों और अपनी आँख के बीच का अन्तर अनुभव होने लगा। यह परीक्षण इस स्थापना का समर्थन करता है कि दूरी दृष्टि का विषय नहीं है।"

इसी सम्बन्ध में मालिनो (Molineux) महोदय लिखते हैं:--"कल्पना कीजिए कि एक जन्मांध मनुष्य को शिक्षा दी गई और वह हाथ से प्रत्येक पदार्थ को स्पर्श करके उसके परिमाण, घन, ऊँचाई आदि को बतला सकता है। मान लीजिए उस मनुष्य को किसी साधन द्वारा आँखें मिल जायँ। तब क्या वह उन पदार्थों के परिमाणादि का ज्ञान केवल नेत्र से प्राप्त कर सकेगा? नहीं—कभी नहीं। क्योंकि अभी-तक उसे यही ज्ञात हुआ था कि अमुक परिमाण का पदार्थ त्वचा को इस प्रकार प्रभावित करता है पर उसे इस बात का पता नहीं कि अमुक परिमाण का दृष्टि पर यह परिणाम होता है। इस कारण जिस कोण को वह पहिले हाथों से छूकर बतला सकता था अब वह नेत्रों से नहीं बतला सकता। इस समय वह सब पदार्थों को चपटे ही देखेगा। हाँ, कुछ दिनों के त्वगनुभव से उसे वास्तविक ज्ञान होने लगेगा।"

यद्यपि हमें इस प्रकार की परीक्षा करने का अवसर अभी-तक प्राप्त नहीं हुआ तथापि हम भी इस मत के पोषक हैं।

कारण यह है कि यदि हम में घनता, दूरी आदि का बोध प्राप्त करने की शक्ति केवल नेत्र द्वारा होती तो हम निरी आँखों की सहायता से तारों की दूरी आदि निश्चित कर सकते पर हम उन सबों को सम-तल में देखते हैं जो वस्तुतः ऐसे नहीं हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा का धरातल भी हम समतल में देखते हैं (केवल काले २ धब्बों को देखकर उसके विषम-तल का अनुमान अब हम करने लगे हैं) यद्यपि वह वैसा नहीं है। जंगल में दूरस्थ पहाड़ भी हमें समीप ही दिखाई देते हैं। उनकी दूरी का निश्चय जो वहाँ का अनुभवी निवासी कर सकता है वह नया आदमी नहीं कर सकता। इन कारणों से हमें भी उक्त सिद्धान्त में अधिक विश्वास हुआ है।

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् में बोध द्वारा ही संबंध स्थापित होता है। यह बोध ध्यान के आश्रित है। शरीर में कितना ही परिवर्त्तन क्यों न हो; इन्द्रियों में कितनी ही उत्तेजना क्यों न उत्पन्न की जाय पर यदि ध्यान उस ओर आकृष्ट न हुआ तो बोध संभव नहीं। हम कई बार यह अनुभव कर चुके हैं कि जब हमारा मन किसी विषय के मनन में तल्लीन है तब अपनी आँखों के सम्मुख किसी घटना के होते हुए भी वह हमें नहीं दिखाई देती; यद्यपि वह ठीक उसी क्रम से होती है जैसे कि देखने वाले के सामने हुआ करती है। इस समय बोध के न होने का मुख्य कारण घटना-क्रम में किसी विशेष परिवर्तन से नहीं अपितु ध्यानाभाव से है।

अन्धे लोगों की शब्दानुभव की शक्ति बढ़ जाती है। वे केवल शब्दों को सुनकर ही मनुष्य की आयु और परिचय बतला सकते हैं। कई अन्धे ऐसे देखे गये हैं जो चलते हुए आदमी के जूते की आवाज़ को सुनकर ही अपने परिचित व्यक्तियों को पहचान जाते हैं। किसी २ की शक्ति तो यहाँ तक बढ़ जाती है कि वे पहियों की आवाज़ को सुनकर मोटर कम्पंनियों के नाम तक बतला देते हैं। इस सफलता का मुख्य कारण यही है कि हमारी अपेक्षा उनका ध्यान कानों की ओर अधिक आकृष्ट होता है।

किसी वस्तु का बोध बार २ प्राप्त करने से उसकी उत्तेजना शक्ति क्षीण हो जाती है; अतः उस वस्तु के होते हुए भी हमें उसका ज्ञान नहीं होता। हम कितनी ही बार अपनी आँखों को मूँदते हैं पर अन्धकार का अनुभव कभी नहीं होता। जिन मनुष्यों में अप् या अनावश्यक शब्दों के प्रयोग की आदत पड़ जाती है; वे प्रतिदिन उनका प्रयोग प्रायः करते हैं परन्तु उन्हें ऐसा करने का ज्ञान कभी नहीं होता।

भौतिक जगत् में मन जिस क्रम से अनुभव करता है ठीक उसी क्रम से स्मृति नहीं होती। वह प्रत्येक पदार्थ की पृथक् २ होती है। आपको श्वेत रंग का अनुभव है। अपने जीवन में श्वेत पदार्थ कई बार देखे हैं। किन्तु श्वेत रंग की स्मृति के साथ उसके द्रव्य और स्थान का स्मरण नहीं होता। आप यह नहीं बतला सकते कि आपको जन्म से लेकर आज तक

श्वेत रंग के पदार्थों का अनुभव कितनी बार हुआ; और न यह भी बतला सकते हैं कि भिन्न २ पदार्थों का बोध इस क्रम से और इन २ स्थानों पर हुआ है। अर्थात् जब एक ही जाति के अनेक पदार्थ कई बार देखे जाते हैं तो उन सब की स्मृति एक ही होती है।

एक पदार्थ का बोध सब मनुष्यों को समान नहीं होता। इस भिन्नता के दो कारण हैं-एक अस्पष्टता और दूसरा विपरीतता। अस्पष्टता-इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाने से, ध्यान की न्यूनता से, अनुभव में शीघ्रता करने से या तत्सम्बान्धित संस्कारों की न्यूनता से मानस-पटल पर कल्पनाएँ अस्पष्ट होती हैं; अतः बोध यथा-वत् नहीं हो पाता।

बिपरीतता--वृत्ति, विकृति और संस्कारों की भिन्नता या विपरीतता से बोध में भी भिन्नता या विपरीतता आजाती है। विरह से व्याकुल पत्नी जहाँ आने वाले की प्रत्येक आहट को अपने प्रियतम का आगमन समझती है वहाँ चोर उसे सुनकर अपने पकड़ने वाले का अनुमान करता है। एक ही आहट से एक में प्रेम का संचार और दूसरे में भय की उत्पत्ति होती है। प्रेम की वृत्ति में जो अनुज प्रेम-पात्र समझा जाता है वही प्रेयसी-मिलन के समय कंटक अनुभूत होता है।

शरीर की प्रकृति में विकार उत्पन्न हो जाने के कारण इन्द्रियाँ भी विकृत हो जाती हैं। यह विकृति विपरीत बोध का

हेतु होती है। स्वस्थ अवस्था में जो शक्कर मीठी लगती है वही रुग्णवस्था में कड़ुवी लगने लगती है।

विपरीत बोध का तीसरा कारण संस्कारों की भिन्नता है। जिस वर्षा को वैज्ञानिक प्राकृतिक नियम का परिणाम समझता है उसको फलित ज्योतिष वाला गृहों की कृपा और भक्त अपने इष्टदेव की कृपा का फल मानता है।

संसार की समस्त बातें बोध-गम्य नहीं। यह संसार कब और कैसे बना इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव करना असंभव है। इसी कारण इन विषयों में पुराण और तर्क का बड़ा झगड़ा होता है। हमें इन बातों की आवश्यकता नहीं, और न हम कभी इन्हें निश्चयात्मक रूप से जान ही सकते हैं। यह विश्व किन नियमों से चलता है, इसी का बोध प्राप्त करना हमारे लिए सम्भव है; अतः इसी ओर हमें अपनी शक्तियों को लगाना चाहिए।

पृथ्वी की गति प्रतिघंटा कितनी है, पदार्थों के क्या-क्या गुण हैं, उनके क्या-क्या उपयोग हैं, इन बातों की परीक्षा हमारे लिए संभव है; अतः हमें इन्हीं बातों के रहस्य को जानने का यत्न करना चाहिये। पृथ्वी क्यों बनी, वह सूर्य के चारों ओर क्यों फिरती है, चन्द्रमा शीतल क्यों है—उष्ण क्यों नहीं; इन प्रश्नों का उत्तर विज्ञान की सहायता से नहीं दिया जा सकता और न ये विषय विज्ञान के अन्तर्गत हैं।

चौथा अध्याय

अंतर्बोध

अन्तर्बोध मेधा का वह समुन्नत कार्य है जिस में वह किसी पदार्थ के कारण, कार्य, सम्बन्ध और नियमों का बोध प्राप्त करती है। इसमें प्रत्यक्ष की अपेक्षा तर्क और संचित संस्कारों का उपयोग अधिक होता है और इसका समस्त कार्य अनुमान पर ही अवलंबित है।

अन्तर्बोध समस्त वैज्ञानिक उन्नतियों का सर्वोत्कृष्ट साधन है। विज्ञान की उन्नति या आविष्कारों का बाहुल्य वास्तव में इसी शक्ति के विकास का परिणाम है। हम में ज्यों २ यह शक्ति बढ़ेगी त्यों २ विज्ञान में हमारी उत्तरोत्तर प्रगति होती जायगी।

अन्तर्बोध के महत्व और उस के कार्य को समझलेना आविष्कार-विज्ञान के एक बड़े भाग को समझ लेना है। इसी के द्वारा मानव-समाज को उन शक्तियों का पता लगा जिनकी सहायता से उसने संसार में नयी-नयी क्रांतियाँ उत्पन्न की हैं।

यह आपका परम् हित-चिन्तक और सतत् परिश्रम करने वाला श्रेष्ठ मित्र है। सोते-जागते, उठते-बैठते अर्थात् सभी अवस्थाओं में यह आपका कल्याण सोचता रहता है। वेद में

इसका वर्णन करते हुए लिखा है–

ऋषी बोध प्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥
अथर्व. ५ ३. १०.

अर्थ–बोध और प्रतीबोध ये दो ऋषि हैं; जो सदा उद्यमी और सावधान रहते हैं । ये दोनों ऋषि तेरे जीवन के रक्षक हैं, वे दिन और रात जागते रहें ।

उक्त मन्त्र में इन्हें (बोध और अन्तर्बोध) ऋषि कहा है । 'ऋषिर्दर्शनात्' इस निरुक्ति से दूरदर्शी, पदार्थों के गुप्त रहस्यों को प्रकट करने वाला, तत्वज्ञ और विज्ञान द्वारा समाज का कल्याण करने वाला–इतने अर्थ 'ऋषि' शब्द के होते हैं । अब पाठक-वृन्द ही समझलें कि वेद की दृष्टि से अन्तर्बोध का महत्व कितना है ।

हमें कई वर्षों पहले विद्युत का बोध हो चुका था किन्तु अन्तर्बोध के बिना उसका उपयोग प्रकाश, गति, यन्त्र, समाचार-भेजना, आदि कार्यों में नहीं हुआ । वाष्प का बोध कई वर्षों से होने पर भी अन्तर्बोध द्वारा ही उसका उपयोग गति में होने लगा । अण्वीक्षण-यंत्र के अन्तर्बोध के सहस्रों वर्ष पहले हमें कांच का बोध हो चुका था । वायु को तरल बना लेने के अन्तर्बोध के कई वर्षों पहले हमें वायु का ज्ञान था । मित्र वायु का बोध कई वर्षों पहले हो चुका था जब कि अन्तर्बोध द्वारा उसकी सहायता से विमान उड़ाने का अन्तर्बोध हुआ । तात्पर्य यह

कि बोध के तत्वों की सहायता से अन्तर्बोध ने अनेक आविष्कार कर दिखाये और भविष्य में इसकी उपयोगिता कहाँ तक होगी यह आज अनुमेय नहीं।

मनुष्य में जब किसी पदार्थ की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है और साधारण परिस्थिति में यदि वह पदार्थ उसे अप्राप्त रहे तो वह (मनुष्य) उस परिस्थिति से असन्तुष्ट होकर उस (पदार्थ) को प्राप्त करने की विशेष चेष्टा करता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान के जिज्ञासुओं में जब किसी विषय की तीव्र उत्कण्ठा हो जाती है तब वे बोध की साधारण कल्पनाओं से असन्तुष्ट होकर वांछित ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अन्तर्बोध ही की शरण लेते हैं।

भारतीय शास्त्रों में इसके इतने पर्य्याय मिलते हैं—प्रत्यक्-ज्ञान, प्रतिबोध, प्रतीबोध, अन्तर्भान, प्रतिभा, प्रतिभान, आर्षेय-बोध, और प्रातिभ ज्ञान। इसी ज्ञान की पराकाष्ठा को ऋषियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा है। हिन्दी कोषों में इस विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है; यह बड़े दुःख की बात है।

बोध और अन्तर्बोध में समता और भेद।

इनमें यही समता है कि ये दोनों मेधा के कार्य हैं; दोनों का सम्बन्ध सञ्चित संस्कारों से है और दोनों उन्हें बढ़ाते हैं।

बोध और अन्तर्बोध में बहुत भिन्नता है। यह भिन्नता इतनी स्पष्ट है कि साधारण जन भी इसका अनुभव बड़ी

सरलता से कर सकते हैं। जो पदार्थ हमारी इन्द्रियों के सम्मुख हैं, उनके लक्षण, आकार-प्रकार और क्रिया-क्रम का ज्ञान प्राप्त करना बोध है और उनके कारण, सम्बन्ध और नियमों का बोध 'अन्तर्बोध' कहाता है। बोध में प्रायः वे ही बातें आती हैं जिन्हें हम पहले से जानते हैं किन्तु अन्तर्बोध में पूर्वानुभव से किसी नवीनता की खोज की जाती है। बोध का विषय बाह्य पदार्थों में स्पष्ट देखा जा सकता है पर अन्तर्बोध का सम्बन्ध विशेषतः संचित संस्कारों से ही होता है। इसी कारण दो मनुष्यों के अन्तर्बोध एक जैसे नहीं होते।

कई लोगों को यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है। वे कहते हैं कि बोध से भी नवीन ज्ञान की उत्पत्ति होती है। कल्पना कीजिये, कि आप एक हब्शी को देख रहे हैं। उसे आपने पहले कभी नहीं देखा। इतना काला और स्थूल शरीर देखने का आपका यह प्रथम अवसर है; अतः यह विषय आपके लिए बिलकुल नया है। तब क्या यह अन्तर्बोध है? यदि बोध है तो उसमें नूतन ज्ञान कैसा?

इस शंका का समाधान इस प्रकार है। यह अनुभव बोध है; अन्तर्बोध नहीं। आपको इस प्रकार के काले आदमी का अनुभव न भी हो तथापि आपने काले रंग को पहले देखा है। इस कारण उस व्यक्ति का काला रंग आपके लिये नया नहीं है। जो बात उसमें नयी है वह साधारणतः ज्ञात न होगी। उसके लिये कई दिनों के प्रत्यवेक्षण की आवश्यकता है।

अन्तर्बोध केवल मेधा का परिणाम नहीं; उसमें चिन्तन, स्मृति, तर्क, अनुमान, और उपमान का भी उपयोग होता है। इनकी सहायता से आयी हुई कल्पना रूपान्तरित हो जाती है। उसकी कई अनावश्यक बातें हटाकर मन अपने पास से अनेक उपयोगी बातों को जोड़कर उसे अपनी इच्छानुसार सजा लेता है। इससे कभी २ आकाश पाताल का परिवर्त्तन हो जाता है। अन्तर्बोध इसी परिवर्त्तन का फल है। जो व्यक्ति इस कार्य में जितना कुशल होगा उसे अन्तर्बोध में उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी।

बोध में मेधा अपने अनुकूल बातों को कल्पना से तुरन्त ग्रहण कर लेती है। परन्तु अन्तर्बोध में कुछ समय तक यह कल्पना पचाई जाती है। इस पचन-क्रिया का समय निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यह क्रिया चेतना से परे चित्त में कई दिनों तक होती रहती है। कभी २ वह चेतना में भी झाँक जाती है। मन इसमें आवश्यकतानुसार काट-छाँट भी कर देता है। गर्भस्थ बालक के परिपक्व हो जाने पर जैसे वह स्वयमेव बाहर आजाता है ठीक इसी प्रकार अन्तर्बोध पूर्ण हो जाने पर चेतना में एक दम प्रकट हो जाता है। माता के सदृश इस समय चित को भी अपने नवजात बालक को देख कर असीम आनन्द होता है।

हम कभी अकेली कामना का चिंतन नहीं कर सकते। जैसे एक पदार्थ की ओर धारणा करने पर भी उसके समीपस्थ

अन्य पदार्थ अप्रयास ही दिखाई देते हैं, ठीक इसी प्रकार एक कामना के चिंतन में भी अन्य कामनायें स्वाभाविक रूप से ही मानस-पटल पर आ जाती हैं। हाँ, पहली कामना की ओर ध्यान अधिक और दूसरी कामनाओं की ओर ध्यान कम अवश्य होता है। जैसे एक शब्द सार्थक नहीं होता, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए शब्दों के समूह की आवश्यकता रहती है, वैसे-ही एक कामना ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती और न प्रभाव डालने में समर्थ हो सकती है। उस के लिए दो या दो से अधिक कामनाओं की आवश्यकता अनिवार्य है। अतएव प्रभाव डालने में (अर्थात् बोध और अन्तर्बोध के लिए) सतत्-अभ्यास की आवश्यकता है। मानस-पटल पर की समस्त कामनायें आपस में सम्बंधित होती हैं। अतः यह निस्संकोचतः कहा जा सकता है कि जिस मन में एक कामना उठ सकती है उस मन में उस विषय की अनेक कामनायें उठ सकती है।

एक विचार अपने सदृश दूसरे विचार को उत्पन्न करके स्वयमेव नष्ट हो जाता है। इसे हम विचार-प्रवाह कहते हैं। जिस विचार की हमें आवश्यकता है यदि वही हमारे पटल पर आता तब तो मनन करना बड़ा सरल कार्य होता किंतु ऐसा सम्भव नहीं। इसी कारण एक अन्तर्बोध के लिए कई दिनों तक मनन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यदि कोई कामना

अपने ध्येय को छोड़ कर हुई तब तो अन्य कामनाओं की गति उसी ओर होना स्वाभाविक है।

अन्तर्बोध स्मरण शक्ति पर निर्भर है। जितनी जिस मनुष्य की स्मृति तीव्र होगी, उतना ही अन्तर्बोध उसे अधिक होगा। अन्तर्बोध प्राप्त करने के लिये एक विषय का विपुल ज्ञान आवश्यक है। जिन मनुष्यों का ध्येय निश्चित है, उनको परिस्थिति सहायक होकर उन्नत करती है। जिनका कोई ध्येय नहीं, जो संसार में उत्पन्न होकर केवल अन्न-जल को घटाते और वायु को दूषित करते हैं, अपने विचार वायु के गति-सूचक यन्त्र के सदृश रखते हैं, अर्थात् जो विचार प्रति समय बदला करते हैं, उन्हें प्रतिबोध नहीं प्राप्त होता। संसार के इतिहास इसकी पुष्टि करते हैं। इस कारण एक आँग्ल-कवि ने कहा है 'Aim once determined then either victory or death;' अपने ध्येय को निश्चय करने पर या तो विजय ही प्राप्त करो, अन्यथा हँसते-हँसते अपना खून बहादो!

अन्तर्बोध में एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य है। स्मृति को तीव्र बनाने के लिये भी यही साधन उत्कृष्ट है। जब हमें कोई बात स्मरण नहीं होती तब हम उसका सम्बन्ध उन पदार्थों से ढूँढ़ते हैं जो हमें अभी स्मरण हैं। कल्पना कीजिए कि आप के सम्मुख कोई मनुष्य खड़ा है। उसे देखकर आप यह सहसा कह उठते हैं

कि इसे मैंने पहले कहीं देखा है पर अभी स्मरण नहीं होता कि कब और कहाँ देखा है। तब एक दूसरा आदमी उसका परिचय देते हुए कहता है कि बम्बई में इन्हीं के गृह पर आप ठहरे थे। यह सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर हम उसे पहचान जाते हैं। यहाँ एक बात और कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। वह इस कारण कि कोई स्मृति और अन्तर्बोध में अभेद न मान बैठे। अनुभूत सम्बन्ध का चेतना में आना स्मृति है और नये सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना अन्तर्बोध है।

आविष्कार के लिए अनेक पदार्थों के ज्ञान की इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी ज्ञात वस्तुओं के पारस्परिक संबन्ध के विस्तृत ज्ञान की है। जिस मनुष्य को भिन्न-भिन्न पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का जितना अधिक ज्ञान होगा वह उतना ही अधिक साफल्य प्राप्त करेगा। जिस विज्ञानी ने विमान का आविष्कार किया उसे उन्हीं लोहा, मित्र, आकाश, विद्युत् आदि का ज्ञान था जिनसे पूर्ण अभिज्ञ होने का दावा हम लोग करते हैं। रेल-इंजिन में कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसे हम न जानते हों। प्रायः सभी जानते हैं कि इंजिन में वाष्प और लोहे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। किन्तु उसके आविष्कर्त्ता को उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रगाढ़ परिचय था जिससे हम लोग अनभिज्ञ हैं। इसी कारण हम उसके आविष्कार करने में असमर्थ हुए। उसके आविष्कर्त्ता ने इस

संबंध की खोज की; जिसके नियत कर देने पर वाष्प की सहायता से लोहे में गति उत्पन्न होने लगी।

परिश्रम उद्देश्य को सफल बनाने के लिये किया जाता है। जहाँ साफल्य परिश्रम के बिना ही साध्य है वहाँ कोई परिश्रम नहीं करता और न कभी करने की इच्छा ही करता है। वर्षा को प्राप्त करने के लिये कोई परिश्रम करता नहीं दिखाई देता। क्योंकि ऋतु आने पर वह स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। पदार्थों का अन्तर्बोध होता है अतः सिद्ध होता है कि हमारा ज्ञान सीमित है। वर्तमान से हम अधिक जान सकते हैं। इस कारण हमें इस ओर विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

विचार किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए किया जाता है, परन्तु मनुष्य की जल्दबाज़ी और भय की आदतों के कारण वह प्रायः चिन्ता के रूप में परिणत हो जाता है। इस कारण विचार में सफलता नहीं मिलती और विषय जटिल बन जाता है। ज्यों-ज्यों चिन्तन बढ़ता है, त्यो त्यों मनुष्य ध्येय से दूर और असफलता के निकट आता है। फलतः शक्ति का ह्रास और निराशा को देखकर उद्देश सदा के लिए कष्ट सा बन जाता है।

हम कह चुके हैं कि प्रतिबोध मेधा और तर्क का परिणाम है। मेधा और तर्क श्रद्धा के अनुगामी हैं, अतएव इनसे सर्वदा न्याय की आशा रखना वृथा है। इसके कारण कभी २

प्रतिबोध में भी पक्षपात आजाता है। इसकी निवृत्ति परीक्षा द्वारा की जानी चाहिए अन्यथा सत्य से वंचित रहना पड़ेगा। बोध में बाहरी साधन मुख्य और अन्तर्बोध में गौण रहते हैं। अन्तर्बोध मुख्यतः स्थित संस्कारों से होता है। इस कारण जो मनुष्य प्रातिभ-ज्ञान में सफलता प्राप्त करना चाहें वे अपने संस्कारों को खूब बढ़ावें। प्रतिभा झगड़े के समय किसी उपयोग की नहीं, क्योंकि झगड़ा वैमनस्य से होता है और वैमनस्य में द्वेष प्रधान रहने के कारण श्रद्धा अपने ही पक्ष में रहती है। अतएव तर्क और मेधा दोनों सत्य के स्थान में द्वेष की पुष्टि करते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

प्रयोग-शाला

ज्ञात से अज्ञात को खोजने की प्रक्रिया का नाम प्रयोग है। जिस मन्दिर में प्रयोग किये जाते हैं तथा जहाँ प्रयोग-सम्बन्धी आवश्यक साधन उपलब्ध होते हैं—उसे प्रयोग-शाला कहते हैं।

प्रयोग और परीक्षा में भेद है। विद्यार्थियों को यह भेद समझ लेना आवश्यक है। प्रयोग में कुछ ज्ञात और परीक्षित पदार्थों की सहायता से कोई अनुष्ठान प्रारम्भ किया जाता है। इस अनुष्ठान की विधि निश्चित नहीं होती और न प्रयोक्ता को उसके परिणाम का ही यथार्थ ज्ञान होता है। परीक्षा की व्याख्या प्रत्यवेक्षण के अध्याय में की जा चुकी है।

विज्ञान सम्बन्धी समस्त कार्य प्रयोग-शाला में होते हैं; अतः इसका निर्माण एकान्त स्थान में होना चाहिए। सूर्य की किरणों और वायु के आवागमन के लिए पर्य्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए। अभी कुछ दिन हुए कलकत्ता विश्व-विद्यालय के एक वैज्ञानिक ने 'मॉडर्न रिव्यू' में एक लेख प्रकाशित किया था। उसका आशय यह था कि भारतीय विद्यार्थियों की बुद्धि, आयु, और स्वास्थ्य के क्षीण होने का मुख्य कारण यही है कि वे वरुण (Oxygen, ओषजन या प्राण-प्रद वायु) का सेवन

नहीं करते । हमारी अकर्मण्यता का भी मुख्य कारण यही है । खुली हवा में मनुष्य जितना काम कर सकता है उतना बन्द कोठरियों में नहीं । इस कारण हमें इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

वैज्ञानिकों का साफल्य प्रयोग-शाला में एकत्रित पदार्थों के बाहुल्य पर निर्भर है । जिस चित्रकार के पास चित्र निकालने के जितने अधिक साधन और रंगों के जितने अधिक प्रकार होंगे; उसके चित्रों में उतनी ही अधिक नवीनता और सौन्दर्य्य होगा । ठीक इसी प्रकार यदि प्रयोग-शाला में अपने विषय के अधिक पदार्थ विद्यमान हैं तो वैज्ञानिक उनसे कई प्रकार के प्रयोग और परीक्षा कर सकता है । किन्तु यदि उसके पास तत्सम्बन्धित पदार्थों का अभाव ही है तो वह प्रयोग ही न कर सकेगा और जहाँ प्रयोग न होंगे वहाँ आविष्कारों का होना असम्भव है । अतएव प्रयोग-शाला में अपने विषय के समस्त पदार्थों का संग्रह बढ़ाना चाहिए और यथा सम्भव इसकी उन्नति की चेष्टा करनी चाहिए । परीक्षित पदार्थों के अतिरिक्त उन परीक्ष्य पदार्थों का भी संग्रह होना चाहिए, जिनसे भविष्य में किसी प्रकार के उपयोग की आशा रखी जा सके । केवल सन्देह द्वारा ही कोई पदार्थ आपकी प्रयोग-शाला से पृथक नहीं रखा जा सकता । हाँ, यदि परीक्षा करने पर भी उसकी कोई उपयोगिता सिद्ध न हो तब वह भले ही पृथक किया जा सकता है ।

मान लीजिए, आप बनस्पतिशास्त्र का अध्ययन करना चाहते हैं। तब आपकी प्रयोग-शाला में एक बाग़ होना चाहिए जिसमें भिन्न २ देशों की बनस्पतियें, लताओं और वृक्षों का संग्रह हो। इनके कई प्रकार और उप-प्रकार होते हैं; उनका भी संग्रह होना चाहिए। प्रकार और उप-प्रकारों की संख्या आपकी जितनी अधिक होगी; उतना ज्ञान बनस्पति-शास्त्र में विस्तृत होगा और प्रयोगों की वृद्धि होगी।

पदार्थों के अतिरिक्त प्रयोग और परीक्षा के यन्त्रों का संग्रह करना चाहिए। जिस विद्यार्थी के पास इन यन्त्रों की जितनी विपुलता होगी; वह उतने ही अधिक प्रयोग और सूक्ष्म परीक्षा कर सकेगा। पदार्थों के समान इनका भी महत्व है क्योंकि इनके बिना पदार्थों का उपयोग सम्भव नहीं; अतः इनके संग्रह करने में भी हमें उतना ही परिश्रम करना चाहिए।

प्रयोग-शाला में पदार्थों और यंत्रों का संग्रह व्यवस्थित रूप से किन्हीं नियमों के आधार पर होना चाहिये। इस से समय और श्रम का बचाव होता है। अव्यवस्था में एक पदार्थ को ढूँढ़ने के लिए कई घंटों तक परिश्रम करना पड़ता है किंतु व्यवस्थित-रूप से उन्हें जमा देने से कोई कठिनाई नहीं होती। कोई २ इन्हें अकारादि क्रम से और कोई २ गुण-कर्मानुसार रखते हैं। पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक लाभदायी है। इस संसंब में हम कोई निश्चित नियम नहीं बता सकेत क्योंकि भिन्न २ विषयों के लिए भिन्न २ प्रणाली सरल होती है।

उसके साधारण परिचय के लिए एक उदाहरण दिया जाता है:—

मान लीजिए, आप वैद्य हैं। आपके पास अनेक प्रकार की ओषधियाँ हैं; जिन्हें व्यवस्थित-रूप से आपको रखना है। सब से प्रथम आप दोष के अनुसार ओषधियों को भी तीन भागों में विभक्त करिये-वात-सम्बन्धी, पित्त-सम्बन्धी और कफ-संबंधी। प्रत्येक के दो उपभाग और करिये-(१) क्षीण दोष को कुपित करने वाली और (२) कुपित दोष को सम करने वाली। प्रत्येक के चार प्रकार और हो सकते हैं-चूर्ण; द्रव; अवलेह, घृत, प्राश; और वनस्पति। यदि आप इस प्रकार से या अन्य अनुकूल प्रकार से ओषधियों को व्यवस्थित रखेंगे तो आपको आवश्यकता पड़ने पर वस्तु तुरन्त प्राप्त हो जायगी और श्रम और समय की व्यर्थ हानि नहीं सहना पड़ेगी।

यंत्रों को भी सुव्यवस्थित रखना चाहिये। समय २ पर इनका अवलोकन करना चाहिये; जिससे उनके उपयोग की स्मृति बनी रहे।

इसके उपरान्त प्रयोग-शाला में अपने विषय की सामयिक पत्र-पत्रिकायें आनी चाहिये। उनके साथ उनके विज्ञापनों को भी पढ़ना चाहिये। अपने विषय की उत्कृष्ट पुस्तकों तथा वैज्ञानिक कोष का संग्रह होना चाहिये। यदि अपने विषय का वैज्ञानिक कोष बाजार से उपलब्ध न हो सके

तो वैसा एक स्वतः तैयार करना चाहिये। कोष दो प्रकार के होने चाहिये। एक में शब्दों का संग्रह, प्रत्येक शब्द के साथ उसका अर्थ, पर्य्याय और परिचय रहना चाहिये। दूसरे भाग में पारिभाषिक शब्दों का संग्रह रहना चाहिये। साधारणतः जो भाव अनेक शब्दों द्वारा अभिहित किये जाते हैं उनके लिए एक पारिभाषिक शब्द होना चाहिये। ऐसे शब्दों का संग्रह दूसरे भाग में हो। वैज्ञानिकों के लिए ये कोष बहुत उपयोगी होंगे।

आविष्कार कामना से होता है और कामना संस्कारों से होती है। जिस विषय के संस्कार जिस मन में विपुलता से विद्यमान होंगे उसमें उस विषय की उपयुक्त कामनायें जाग्रत होंगी। अतः भौतिक प्रयोग-शाला के अतिरिक्त हमें मानसिक प्रयोग-शाला में भी संस्कारों का संग्रह बढ़ाना चाहिये।

कामनाओं द्वारा मनन होता है। इन्हीं की सहायता से पदार्थों के अभाव में भी उनका चिन्तन हो सकता है। इस कारण संस्कारों की विपुलता पर हमें विशेष ध्यान देना चाहिये। संस्कारों के संग्रह के साथ-साथ हमें उनके विश्लेषण पर भी ध्यान रखना चाहिये। जिस स्मृति में संस्कार विश्लेषित हैं, वह अधिक दक्षता से कार्य कर सकती है बनिस्बत् उस स्मृति के कि जिसमें संस्कार कहीं इधर-उधर डाल दिये गये हों। संस्कारों के विश्लेषित हो जाने पर ही वे क्रम-बद्ध चिन्तन में

आ सकते हैं। जिन मनुष्यों के संस्कारों का वर्गीकरण नहीं हुआ है उन्हें आवश्यकता पड़ने पर उपयोगी बातों का स्मरण नहीं होता; किन्तु ऐसे समय में उन्हें अनावश्यक बातें सहज में स्मरण हो आती हैं। इस कारण हमें निम्न लिखित पाँच सूचियाँ तैयार करनी चाहिये—

१ पदार्थ-सूची

२ यन्त्र-सूची

३ सिद्धान्त-सूची

४ मन्तव्य-सूची

५ अनुभव-सूची.

(१) पदार्थों की सूची-इस सूची में वे समस्त पदार्थ आने चाहियें जो हमारे विज्ञान में उपयोगी हो सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ के नाम के साथ उसके लक्षण, प्रकार और संक्षेप में उपयोग लिखना चाहिये। तर्क-शास्त्र में पाँच प्रकार के लक्षण-दोष माने जाते हैं। उनके नाम ये हैं-अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव, अन्योन्याश्रय, और आत्माश्रय।

अतिव्याप्ति-जो लक्षण लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ में भी पाया जाय। जैसे किसी ने पूछा कि गौ के क्या लक्षण हैं। यह सुनकर प्रतिवादी ने यह उत्तर दिया कि गौ वह है जिसे सींग हों। यह अतिव्याप्ति दोष है। क्योंकि गौ के अतिरिक्त सींग अन्य पशुओं में भी पाये जाते हैं। इस कारण

लक्षण ऐसे और इतने होने चाहियें कि जिनसे उस पदार्थ का अन्य पदार्थों से पार्थक्य स्पष्ट दिखलाई दे।

अव्याप्ति–यह वह लक्षण है जो लक्ष्य के एक ही देश में पाया जाय; सर्वत्र नहीं। जैसे किसी गायक को देखकर यह कह देना कि मनुष्य वह है जो गाता है। मनुष्य-मात्र गाने वाले नहीं होते क्योंकि गायन मनुष्य का स्वभाव नहीं; वह किसी विशेष मनुष्य में पाया जाता है।

असम्भव–जो लक्षण लक्ष्य में बिलकुल ही न हो। जैसे कोई कहे कि शकर खट्टी होती है। शकर खट्टी नहीं होती। अतः यह असम्भव दोष है।

अन्योन्याश्रय–वह लक्षण जिसमे किसी विशेष वस्तु का बोध न हो। तर्क-शास्त्र में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है–"स्वग्रह सापेक्षग्रह सापेक्षग्रहकत्वं अन्योन्याश्रयत्वे।" जैसे शकर किसे कहते हैं, जो नमक से भिन्न हो; और नमक किसे कहते हैं–नमक वह है जो शकर से भिन्न हो। यहाँ पर शकर का ज्ञान लवण के ज्ञान का आश्रय करता है और लवण का ज्ञान शकर के ज्ञान का आश्रय करता है।

आत्माश्रय–यह वह दोष है जिसमें लक्षण स्वज्ञान की उपेक्षा करे। जैसे–मेधा वह है जो मेधा का कार्य करे। जब पूछने वाले को यही नहीं मालूम कि मेधा क्या है; तब वह मेधा के कार्य को कैसे समझ सकता है।

यहाँ यह बात स्मरण रखलेनी चाहिये कि लक्ष्य या उसका पर्य्याय लक्षण में कभी नहीं आता। इसी प्रकार परिभाषा में भी पारिभाष्य शब्द नहीं लाना चाहिये। परिभाषा और लक्षण के वर्णन में निम्न लिखित शब्दों का त्याग करना चाहिए–

(क) **जटिल**–लक्षण में जहाँ-तक सम्भव हो सरल और सुबोध शब्दों का प्रयोग हो।

(ख) **पर्याय**–लक्षण में लक्ष्य के पर्याय-वाची शब्द नहीं आने चाहियें।

(ग) **आलङ्कारिक**–अलंकार-युक्त शैली त्याज्य है।

(घ) **अनावश्यक**–लक्षण जहाँ तक हो सके वहाँ तक कम शब्दों में वर्णन करना चाहिये।

(ङ) **अभावात्मक**–जैसे, गाय वह है जो घोड़ा न हो।

(२) अपनी प्रयोग शाला में जितने यन्त्र हों, उनकी सूची तैयार करनी चाहिए। प्रत्येक यन्त्र के नाम के साथ उसका साधारण परिचय और उसकी उपयोगिता का वर्णन भी हो।

(३) **सिद्धान्त-सूची**–इस सूची में वे सब बातें आनी चाहिएँ, जिन्हें आप सत्य मानते हैं और जिनका अनुभव आप स्वयं कर चुके हैं। प्रत्यक्षानुभव बिना किसी बात को इस सूची में मत लिखो। अमुक प्रोफेसर का यह मत है–अमुक धर्म-ग्रन्थ की यह आज्ञा है, अमुक पुस्तक में यह लिखा है–

ऐसी बातों का समावेश इस सूची में नहीं होना चाहिए। इस सूची में निम्नांकित चार बातें अन्तर्गत होती हैं।

(अ) **नियम**–जिनके अनुसार कार्य होते हैं;

(आ) **कारण**–जिनसे कार्य की उत्पत्ति होती है;

(इ) **कार्य**–एक कारण का दूसरे कारण से संयोग कर देने पर जो परिणाम होता है;

(ई) **विधि**–जिस विधि के अनुसार कार्य किये जाते हैं।

सूचना–कभी २ विधि को कार्य के साथ लिखने से विशेष सहूलियत होती है।

(४) **मन्तव्य-सूची**–इसमें तर्कानुकूल अपरीक्षित नियमों का संग्रह होना चाहिए। इस सूची में वे सब बातें आनी चाहिएँ जो तर्क की सहायता से सम्भव मानी जा सकती हैं किंतु जिनकी परीक्षा अभी-तक नहीं की गई है। इस में जहाँ अपने अनुमानों का संग्रह होना चाहिए वहाँ अन्य लोगों के सिद्धांतों पर भी विचार करना योग्य है। कल्पना कीजिए, कोई एक नियम है, इसे आप सत्य स्वीकार नहीं करते अपितु वह एक बड़े प्रतिष्ठित और प्राज्ञ वैज्ञानिक द्वारा कही गई है; तो उसका भी संग्रह इसमें होना चाहिए। भविष्य में इसकी परीक्षा की जानी चाहिए और जब सत्य सिद्ध हो जाय तब सिद्धांतों के अन्तर्गत इसे कर लेना चाहिए।

(५) **अनुभव-सूची**—आविष्कार के लिये वैज्ञानिकों को अपनी प्रयोग-शाला में कई वर्षों तक अनुसन्धान, अनुमिति और परिमार्गन करने पड़ते हैं। इसमें पदार्थों का विश्लेषण होता और योग द्वारा नये पदार्थ बनाये जाते हैं। इनके द्वारा जो परिणाम प्राप्त हो; उसे इस सूची में एकत्रित करते रहना चाहिए। मान लीजिये, आपको किसी साधन द्वारा यह अनुमान हुआ कि रसायानिक क्रिया द्वारा सुवर्ण बनाया जा सकता है। अतः आपको इस समय दो प्रणालियों का अवलम्बन करना चाहिए:- एक तो सुवर्ण का विश्लेषण कर इस बात की जाँच की जानी चाहिए कि सोना वस्तुतः मूल धातु है या मिश्रण। यदि मिश्रण है तो वह किन २ पदार्थों के संयोग से बना है। दूसरी प्रणाली में भिन्न २ धातुओं का मिश्रण तैयार कर परीक्षा की जानी चाहिए कि उन मिश्रणों में और सुवर्ण में किसी प्रकार की समानता है या नहीं। वैज्ञानिक लोग इसी प्रकार के प्रयोग कई वर्षों तक करते रहते हैं। उन पर विचार कर अपने प्रयोगों में परिवर्त्तन करते रहते हैं; तब कहीं कई वर्षों के अक्लान्त परिश्रम द्वारा उन्हें सफलता मिलती है।

अपनी प्रयोग-शाला में अपने विषय के पदार्थों की जितनी वृद्धि होगी; उतने ही प्रकार के नये मिश्रण आप बना सकेंगे। और जितने अधिक प्रकार के मिश्रण आप के पास होंगे उतनी जल्दी आविष्कार में सफलता की आशा रखी

जा सकती है। इन पदार्थों का संग्रह निष्काम भाव से किया जाना चाहिए। संगृहीत सभी पदार्थ उपयोग में नहीं आते। प्रयोग करते २ वर्षों में कहीं कुछ पदार्थों की उपयोगिता सिद्ध होती है।

प्रयोग-शाला के प्रत्येक पदार्थ को आपने भली-भाँति समझना चाहिए। किसी पदार्थ की कल्पना से कोई लाभ नहीं होता; जब-तक कि उसके भाव का ज्ञान न हो। जैसे माँस के विना हड्डियों का पुतला किसी उपयोग का नहीं; वैसे ही बिना भाव के कल्पना निर्जीव होती है। अतः प्रत्येक कल्पना के साथ उसके अर्थ, भाव और उपयोगिता का भी पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। प्रयोग या विचार करते समय उन पारिभाषिक शब्दों का उपयोग मत करो; जिन्हें आप स्वयं न समझते हों। पवन-दान, अनुप्रतीयमान प्रत्यक्षानुभव, प्रत्यक्षानुभवाभास, अपार्थक आदि जटिल शब्दों का प्रयोग तब-तक नहीं करना चाहिए; जब-तक इनका ज्ञान पूर्णतया न हो जाय।

विज्ञान के जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे अपने विचारों को स्वतन्त्र बनायँ और जातीयता के संकीर्ण भावों को छोड़ अपने हृदय को विश्व-प्रेम से अलंकृत करें। चाहे कोई भी व्यक्ति हो, किसी भी देश या समाज का हो, परन्तु यदि उसने उस विषय के सम्बन्ध में; जिसकी गवेषणा आप करना चाहते हैं; कुछ लिखा है, तो बिना किसी संकोच के आपको

उसके सिद्धांतों का मनन करना चाहिए। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि सत्यता पर किसी देश, धर्म या व्यक्ति की छाप नहीं लगी है। वह सब जातियों के लिए समान है और हमें उसका उपयोग करने का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

जो मनुष्य विज्ञान की आकांक्षा रखते हुए अन्य विद्वानों से कुछ सहायता नहीं लेते, जो जातीय-साहित्य को अपनी बपौती समझकर अपने यत्किंचित प्रत्यवेक्षण पर ही सब कुछ करना चाहते हैं; ऐसे कूप-मंडूक सिवा समय और श्रम की व्यर्थ हानि के कोई उन्नति नहीं कर सकते। अपने संकुचित भावों को छोड़कर अन्य विद्वानों की पुस्तकों और उपदेशों से सहायता लेना कोई बुरी बात नहीं है। आज-तक यही क्रम चला आ रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा।